"वर्तमान परिवेश में गीता-दर्शन के शैक्षिक निहितार्थों का समालोचनात्मक अध्ययन"

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
की
शिक्षा शास्त्र में पी-एच०डी० उपाधि हेतु
प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

2007

शोध निर्देशक :
डॉ० प्रताप सिंह सेंगर
रीडर, शिक्षा संकाय
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज
अतर्रा (बाँदा) उ.प्र.
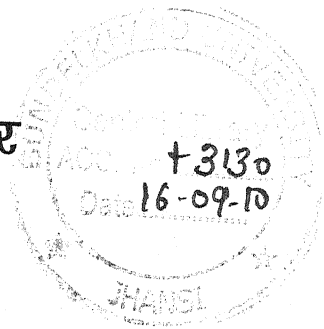
शोधकर्ता :
ब्रजेन्द्र नाथ पाण्डेय
एम.ए. (हिन्दी), एम. एड.

शिक्षक शिक्षा विभाग
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज, अतर्रा (बाँदा) उ.प्र.

डॉ० प्रताप सिंह सेंगर
रीडर, शिक्षा संकाय
अतर्रा पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज
अर्तरा (बाँदा)

प्रमाण पत्र
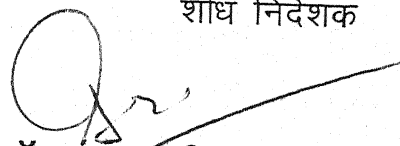
प्रमाणित किया जाता है कि श्री ब्रजेन्द्र नाथ पाण्डेय ने मेरे निर्देशन में **"वर्तमान परिवेश में गीता दर्शन के शैक्षिक निहितार्थों का समालोचनात्मक अध्ययन"** नामक विषय पर शोध कार्य सम्पन्न किया है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है यह शोध कार्य पूर्णतः अथवा आंशिक रूप में किसी उपाधि के लिए इसके पूर्व सम्मिलित नहीं किया गया है, यह इनका मौलिक प्रयास है। शोध-प्रबन्ध, शोधकेन्द्र पर 200 दिन उपस्थित रहकर पूर्ण किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को मैं बुन्देलखंड विश्वविद्यालय झाँसी की पी–एच० डी० उपाधि हेतु संस्तुत करता हूँ।

दिनांक : 2/3/07

स्थान : अतर्रा

शोध निर्देशक

(डॉ० प्रताप सिंह सेंगर)
रीडर, शिक्षक शिक्षा विभाग
अर्तरा पोस्ट ग्रेजुएट कालेज
अतर्रा बाँदा (उ०प्र०)

घोषणा-पत्र

मैं घोषणा करता हूँ कि **"वर्तमान परिवेश में गीता दर्शन के शैक्षिक निहितार्थों का समालोचनात्मक अध्ययन"** नामक शोध प्रबन्ध मेरा मौलिक प्रयास है। जहाँ तक मेरी जानकारी है इस शोध कार्य को इसके पूर्व कहीं भी प्रस्तुत नहीं किया गया है। शोध प्रबन्ध की विषय वस्तु मेरे द्वारा स्वयं अर्जित एवं संग्रहीत की गयी है।

दिनांक 02.03.07

शोधकर्ता

(B.N.Pandey)
ब्रजेन्द्र नाथ पाण्डेय

स्थान : अतर्रा

(ब्रजेन्द्र नाथ पाण्डेय)

एम.ए. (हिन्दी) एम. एड.

आमुख

संसार का प्रत्येक मानव दार्शनिक है क्यों कि वह जन्म से मृत्यु तक प्रकृति में घटित होने वाली घटनाओं को उत्सुकता एवं कौतूहल से देखता है, उन्हें अर्थ प्रदान करता है अपने नवीन अनुभवों से नीति एवं नियमों का आविष्कार करता है। प्रत्येक तथ्य तक पहुँचना उसका स्वभाव है, वह सत्य का ग्राहक है; तथ्य का अन्वेषक है।

जिज्ञासा मानव की मूल प्रकृति है, चाहे मानव आदिम हो या आधुनिक, आदिम समाज का मानव भी अपने आस–पास की वस्तुओं के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए सदैव जिज्ञासु रहा। जिज्ञासा के कारण व्यक्ति के मस्तिष्क में तरह–तरह के प्रश्न उठे होंगे। जीवन क्या है ? मानव–मानव के पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? पानी क्यों बरसता है ? बिजली क्यों कौधती है ? आदि निरीक्षण एवं तद्विषयक अपने निष्कर्षो से व्यक्ति अपनी जिज्ञासा को शान्त करता है। निष्कर्ष एवं पुनः निष्कर्ष मानव चिन्तन को गतिशीलता प्रदान करता है। इसलिए मानव चिंतनशील प्राणी कहा जाता रहा है। चिंतन मानव जीवन का अनिवार्य पहलू एवं उसकी आवश्यक आवश्यकता है।

किसी क्षेत्र का वातावरण वहाँ की भौगोलिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है और वहाँ के निवासियों का समायोजन यदि परिस्थितियों के अनुरुप होता है तो उस देश के समाज में सन्तुलन बना रहता है। हमारे देश में विशेष रुप से स्वतंत्रता के पश्चात् मानवीय मूल्यों का ह्रास द्रुतगति से हुआ है और व्यक्ति ने विभिन्न क्षेत्रों में अनुकरण पद्धति का अनुकरण किया है। चाहे अनुकरणीय वस्तुएँ देश की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरुप हों या न हों।

अंधानुकरण की इस प्रवृत्ति ने हमारे मन–मस्तिष्क तथा देश की मनीषा को इस सीमा तक प्रभावित किया है कि वस्तुतः हमें अपने सांस्कृतिक विरासत एवं उसकी उत्कृष्ट जीवन शैली की ग्राहकता के प्रति अब संशयभाव उत्पन्न हो गया है।

संस्कार युक्त समाज तथा भावी पीढ़ी जिसकी उदात्त जीवन मूल्यों एवं आदर्शों में आस्था हो, के निर्माण की दृष्टि से शैक्षिक परिवेश का संस्कार युक्त होना अपरिहार्य है।

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय दृष्टि का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न मतों एवं सिद्धान्तों का समाहारात्मक रूप में प्रस्फुटन हुआ है।

आज शिक्षा के क्षेत्र में एक ऐसे उथल–पुथल का वातावरण है जिससे न तो शिक्षाविद् ही सन्तुष्ट हैं, न शिक्षक वर्ग, न छात्र और न ही समाज के कर्णधार। इस उथल–पुथल पर लोगों के विभिन्न दृष्टिकोण सुनने और पढ़ने को मिलते हैं। किसी के अनुसार राजनीतिक वातावरण ने शिक्षा क्षेत्र की पवित्रता को प्रभावित किया है। किसी के विचार से लक्ष्य का स्पष्ट न होना शिक्षा क्षेत्र की समुन्नति में बाधक है। इन विभिन्न प्रश्नों पर विचारोपरान्त यह समस्या उत्पन्न होती है कि आखिर भारतीय शिक्षा पद्धति में नव चेतना कैसे लाई जा सकती है ? ताकि हमारी शिक्षा, भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल वातावरण सृजित कर सके और छात्रों को नैतिकता के घेरे में रखते हुऐ उन्हें स्वावलम्बी एवं समाजोपयोगी बना सके। इस दृष्टि से विचार मंथन आवश्यक है कि क्या प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में वर्णित शिक्षा पद्धति तथा सांस्कृतिक विरासत को आज के इस

वैज्ञानिक युग में शिक्षा का आधार बनाया जा सकता है ? यदि हाँ तो किस अंश तक अथवा उसके कौन–कौन से पहलू आज भी उपयोगी हो सकते है? इसके लिए प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित शिक्षा के स्वरूप, उद्देश्य तथा शैक्षिक निहितार्थो के वैज्ञानिक दृष्टि कोण से अनुशीलन की आवश्यकता है। शिक्षा एवं जीवन पर प्रकाश डालने वाले हमारे प्राचीन ग्रन्थ, वेद, उपनिषद, पुराण एवं स्मृतियाँ आदि हैं। इन सभी में विविध रूपों तथा उपाख्यानों के माध्यम से एक विशिष्ट जीवन शैली और जीवन दृष्टि का प्रतिपादन एकात्मकता की दृष्टि से किया गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय दृष्टि का एक प्रतिनिधि ग्रन्थ है जिसमें विभिन्न मतों एवं सिद्धान्तों का समाहारात्मक रूप में प्रस्फुटन हुआ है। गीता ने दार्शनिक जगत् में एक नयी क्रान्ति का बीजारोपण कर आधुनिक दार्शनिकों में एक नवीन भावना तथा चिंतन धारा को जागृत किया। इस विषय में अरविन्द घोष ने स्पष्ट कहा है–"प्रत्यक्ष अनुभव से यह स्पष्ट दिखायी देता है कि श्री मद् भगवद् गीता वर्तमान युग में भी उतनी ही महत्वपूर्ण एवं स्फूर्तिदायी है जितनी महाभारत के समय में थी।"

गीता सन्देश का प्रकाश केवल दार्शनिक अथवा विद्वत चर्चा का ही विषय नहीं है, अपितु आचार–विचारों के क्षेत्र में भी सदैव जीता जागता प्रतीत होता है।

एक राष्ट्र तथा संस्कृति के पुर्नजागरण में गीता के उपदेशों की सार्थक भूमिका है। श्रीकृष्ण ने मानव जीवन में श्रम तथा कर्म की महिमा का उपदेश अपनी जिस अधिकारिक वाणी से दिया है उस सच्चे आध्यात्मिक सनातन संदेश को गीता आज भी दे रही है, जो कल के ध्येयवाद के लिये आवश्यक है।

शोधकर्ता के लिए यह कदापि सम्भव नहीं था कि वह समस्त विचारों की व्याख्या प्रस्तुत कर सके, यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि प्रस्तुत रचना एक प्रबन्धन मात्र है। इस सम्बन्ध में किसी मौलिकता का दावा तो नहीं कर सकता परन्तु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में दृष्टिकोण, वस्तुगत, नव्य दार्शनिक विचार मुख्य रूप से शिक्षा सम्बंधी हैं। वर्तमान परिवेश में शैक्षिक वातावरण को निखारने में गीता की क्या उपयोगिता है? वर्तमान शोध का यह प्रतिपाद्य विषय है।

प्रस्तावित शोध की विषय वस्तु को अधोलिखित रूप में व्यवस्थित एवं विभाजित किया गया है–

प्रथम अध्याय में प्रस्तावना के साथ–साथ वर्तमान दार्शनिक परिदृश्य एवं समन्वयवादी दर्शन की आवश्यकता पर प्रकाश डाला गया है तथा वर्तमान शोध की आवश्यकता एवं महत्व तथा शोध के उद्देश्यों का उल्लेख किया गया है।

शोध प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में गीता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, रचनाकाल, गीता की दार्शनिक दृष्टि, गीता में समन्वयवाद, गीता दर्शन पर सम्पन्न शोध निष्कर्षों को समाहित किया गया है। गीता दर्शन पर विभिन्न विद्वानों की टीकाओं तथा मनीषियों के विचारों ने इस अध्याय को आधारभूमि प्रदान की है।

तृतीय अध्याय वर्तमान शोध प्रबन्ध में अपनायी गयी शोध विधि से सम्बन्धित है।

चतुर्थ अध्याय में गीता का दर्शन और उसके आधारभूत सिद्धान्तों पर प्रकाश डालने का यथा सम्भव प्रयास किया गया है।

शोध प्रबन्ध के पंचम् अध्याय में गीता का दर्शन एवं शिक्षा तथा उसके उद्देश्यों पर विस्तृत प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ का षण्ठ अध्याय गीता के शैक्षिक निहितार्थों तथा वर्तमान परिवेश में उसके मूल्यांकन से सम्बधित है।

सप्तम् अध्याय में प्रस्तुत शोध का सारांश निष्कर्ष एवं सुझाव को समाहित किया है।

इस शोध प्रबन्ध को पूरा करने में शोध निर्देशक डॉ० प्रताप सिंह सेंगर जी (रीडर, पोस्ट ग्रेजुएट कालेज अतर्रा) ने प्रारम्भ से अन्त तक असीम सहयोग प्रदान किया। हर क्षण हर पल उन्होंने मेरा उत्साहवर्द्धन तथा ज्ञानवर्द्धन किया। उनके मूल्यवान परामर्श एवं असीम सहयोग हेतु में उनका सहृदय कृतज्ञ हूँ। मैं यह अत्यन्त विनम्रभाव से उल्लेख करना चाहूँगा कि उनके सतत् सहयोग एवं मार्गदर्शन के अभाव में वर्तमान शोध प्रबन्ध का प्रणयन सम्भव ही नहीं था। वस्तुतः जीवन के कुछ अनुभव तथा अनुभूतियाँ ऐसी होती है जिसकी अभिव्यक्ति शब्द सामर्थ्य की सीमा से परे होती हैं अपने शोध निर्देशक के प्रति आभार ज्ञापन के क्षणों में शोधकर्ता अपनी शब्द सामर्थ्य की ऐसी ही लाचारी का अनुभव कर रहा है अस्तु उनके प्रति आभार ज्ञापन के रूप में मेरी अभिव्यक्ति एक औपचारिकता मात्र है।

मुख्य रूप से मैं शिक्षक शिक्षा विभाग (बुन्देल खण्ड विश्वविद्यालय झाँसी) के विभागाध्यक्ष डॉ० डी० एस० श्रीवास्तव जी को मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ जिनके सहयोग एवं मार्ग दर्शन से शोध कार्य इस रूप में सम्पन्न हो सका।

शिक्षक शिक्षा विभाग के अन्य विद्वानों एवं गुरुजनों का प्रस्तुत शोध कार्य पूर्ण करने हेतु समय–समय पर मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त हुआ। उनका मैं आभार प्रकट करता हूँ। विभाग की एकमेव विदुषी डॉ० श्रीमती उषा कक्कड़ एवं विद्वान प्रो० राममूर्ति पाण्डेय का मैं हृदय से कृतज्ञता एवं नमन करता हूँ जिनका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रस्तुत शोध कार्य के पूर्ण करने में समय–समय पर मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा है।

इस शोध कार्य को पूरा करने में विशेष रूप से अपने घनिष्ठतम् मित्र डा० अरविन्द कुमार द्विवेदी (सहायक प्राध्यापक, रामनगर कन्या डिग्री कॉलेज, रामनगर) के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ जिनका सहयोग मेरे लिए अतुलनीय है।

मैं अपने पूज्य माता–पिता एवं चाचा सहित उन समस्त परिवारजनो के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूँ जिन्होंने एक सुखद पारिवारिक वातावरण के निर्माण में कोई कमी नहीं छोड़ी और उसी का परिणाम है कि मुझे इस स्तर तक आने का सौभाग्य मिला। मैं अपने उन सभी इष्ट मित्रों के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समय–समय पर यथा सम्भव मेरा सहयोग किया।

आभार ज्ञापन के क्षणों में उन समस्त विद्वानों,मनीषियों जिनके लेखन एवं विचारों की प्रस्तुत शोध प्रबन्ध की पूर्णता में महती भूमिका है, का विस्मरण कृतघ्नता ही होगी, अस्तु उन्हें शत्–शत् नमन करता हूँ।

अन्त में मैं उन योगेश्वर कृष्ण को कोटि–कोटि नमन एवं वन्दन करता हूँ जिनकी प्रेरणा से मैं उनके ही श्री मुख से प्रस्फुटित वाणी की व्याख्या करने का क्षुद्र प्रयास कर रहा हूँ ।

अनुक्रमणिका

प्रथम अध्याय : प्रस्तावना

1.1. वर्तमान दार्शनिक परिदृश्य

1.2. समन्यवादी दर्शन की आवश्यकता

1.3. वर्तमान शोध की आवश्यकताएं एवं महत्व

1.4. समस्या कथन

1.5. वर्तमान शोध के उद्देश्य

1.6. वर्तमान शोध का परिसीमन

1.7. प्रयुक्तों शब्दों का परिभाषीकरण

अध्याय - 1

भूमिका—प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में शोध विषय की भूमिका दार्शनिक परिदृश्य एवं समन्वयवादी दर्शन की आवश्यकता, वर्तमान शोध की आवश्यकता एवं महत्व वर्तमान शोध के उद्देश्य आदि का उल्लेख है।

अध्याय के अन्त में वर्तमान शोध के परिसीमन के उल्लेख के साथ शोध में प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों को परिभाषित किया गया है।

1.1 वर्तमान दार्शनिक परिदृश्य-

बीसवीं सदी के वैशिष्ट्य को एक दो शब्दो में यदि व्यक्त करना अभीष्ट हो तो इसे वैज्ञानिक, औद्योगिक तथा तकनीकी विकास की सदी की संज्ञा दी जा सकती है। वैज्ञानिक प्रगति के परिणाम स्वरूप हुए ज्ञान के विस्फोट ने आज मानव के जीवन में आमूल चूल परिवर्तन कर दिये हैं। पुरानी मान्यताएँ तथा विश्वास बालू की भित्ति की भाँति ढह रहे हैं। पुरानी आस्थाएँ तथा विश्वास क्षीण होते जा रहे हैं। निःसन्देह वैज्ञानिक प्रगति ने मानव—जीवन को सुखमय बनाने के लिये अनेकानेक संसाधन उपलब्ध कराये हैं किन्तु इस वैज्ञानिक प्रगति की सबसे बड़ी बिडम्बना यह रही है कि मनुष्य उत्तरोत्तर उद्देश्यों को अभीष्ट मान रहा है वे उसकी प्रकृति के अनुरूप न होने के कारण जीवन को नीरस तथा यंत्रवत् बना रहे हैं। आज मानव के बौद्धिक विकास की पराकाष्ठा उसकी प्रकृति तथा नियति को पशु सुलभ जीवन से उद्‌गमित मान रही है

तथा मानव एवं मानवेतर प्राणियों में किसी मौलिक भेद को नकार रही है परिणामस्वरूप मानव एवं मानवेतर जीवन की आवश्यकताओं तथा प्राथमिकताओं में मानव किसी भेद को नहीं देख पा रहा है। फलतः मानव–जीवन में ऐसे विशिष्ट उद्देश्यों की परिकल्पना ही सम्भव नहीं है जो उसे मानवेत्तर प्राणियों से भिन्न किन्ही उदात्त जीवन मूल्यों और जीवन आदर्शों को लक्ष्य मानकर जीवन शैली अपनाने हेतु प्रेरित करें।

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था हमें उत्तराधिकार में प्राप्त हुई एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था है जिसकी पृष्ठभूमि उद्देश्य और ध्येय भारतीय संस्कृति और भारतीय मनीषा से संगति नहीं रखते है परिणामतः वर्तमान शिक्षा व्यवस्था मनुष्य को भावशून्य तथा कृतघ्न बना रही है। शिक्षा के उद्देश्यों में देश के तथा संस्कृति के प्रति लगाव प्राथमिकताओं में नहीं रहे जिससे वह रंग–रुप में भले भारतीय दिखायी देता हो। किन्तु वह उत्तरोत्तर भोगवादी संस्कृति को आत्मसात् एवं अंगीकार कर रहा है। कहना अति–शयोक्ति न होगी कि वह वस्तुतः ध्येय शून्य जीवन शैली का वाहक बनता जा रहा है।

मानव की जिज्ञासु प्रवृत्ति के फलस्वरूप जीवन की उत्पत्ति–अवसान, ज्ञान, अज्ञान, जीवन में करणीय–अकरणीय, उचित अनुचित आदि के मूलभूत प्रश्न प्रारम्भ से ही दो ध्रुवों में बट गये हैं। एक ध्रुव का प्रतिनिधित्व वह विचारधारा करती है, जो यह मानती है कि जीवन की उत्पत्ति में किसी चेतन सत्ता का हाथ है तो दूसरा ध्रुव इस सोच का प्रतिनिधित्व करता है कि जीव और जड़ में कोई तात्विक भेद नहीं है तथा जीवन की उत्पत्ति हेतु जड़ पदार्थ ही मूलतः उत्तरदायी है।

सच कहा जाये तो मनुष्य का सम्पूर्ण आचरण इन दो विचारधाराओं का ही प्रतिबिम्ब रहा है। इन विचारधाराओं के प्रति आस्थावान लोग अपनी–अपनी मान्यताओं के आधार पर जीवन जीते रहे तथा जीवन जी रहे हैं।

समय बीतने के साथ ही साथ जीवन की चैतन्य आधारित अवधारणा में अनेकानेक मतमतान्तर अस्तित्व में आए जिन्होंने प्रकारान्तर से जड़वादी सोच को ही फलने फूलने की उर्वरा भूमि प्रदान की है क्योंकि जीवन की चैतन्य मूलक व्याख्या इस प्रश्न का समुचित उत्तर देने में असफल रही कि जब चेतन सत्ता एक है तो फिर इसके सम्वंध में विविध मतो का एक साथ आस्तित्व में रहना कहॉ तक तर्कसंगत है? डार्विन के विकास वाद और बीसवीं सदी की वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय प्रगति ने जीवन की आत्मा मूलक विचारधारा पर शान्त प्रहार किये है और अब धीरे–धीरे यह सोच प्रभावी होती जा रही है कि ईश्वर तथा उसका अस्तित्व एवं जीवन की उत्पत्ति में उसकी अनुकम्पा मात्र एक बौद्धिक विलास है। जीवन के प्रति इस सोच प्रवाह ने मानव के मन में एक द्वन्द्व का प्रादुर्भाव किया है। फलतः वह उत्तरोत्तर आस्थायुक्त जीवन से विमुख होता जा रहा है। परिणामस्वरूप निराशा कुण्ठा, हताशा, ईर्श्या, वैमनस्य आज के मानव की प्रकृति के अपरिहार्य अंग बन गये हैं तथा इन दुश्प्रवृत्तियों को भोगने की विवशता मानव की नियति बन गयी है। डा० देवराज के शब्दों में–''वस्तुतः वर्तमान समय में मानव जीवन में किसी ऐसे आश्रय बिन्दु का अभाव हो गया है, जिसकी ओर उन्मुख हों जीवन निर्वाह किया जा सके। जीवन जीने के लिए जीवन के सत्यों की अपेक्षा तो है ही, किन्तु

उससे भी अधिक आस्था की आवश्यकता है। विज्ञान की चकाचौंध तथा अतिशय बुद्धिवाद ने कहीं न कहीं हमारी उस आस्था पर आघात किया है जो हमारे जीवन जीने की परिस्थितियों के लिए न केवल आवश्यक थी अपितु अनिवार्य भी थी जीवन में बुद्धि के महत्व को नहीं नकारा जा सकता किन्तु जीवन मात्र बुद्धि और तर्क के सहारे नहीं जिया जा सकता है क्योंकि बौद्धिक निष्कर्ष अन्तिम है यह भी शत–प्रतिशत निश्चयात्मक रूप में नहीं कहा जा सकता है। अस्तु मानव को आस्था रूपी किसी न किसी प्रकाश स्तम्भ की अपेक्षा तो है ही ताकि जीवन के नैराश्य के क्षणों में उसे सम्बल मिल सके।''

संक्षेप में वर्तमान परिवेश तथा परिस्थितियाँ के लिये दार्शनिक द्वन्द्व उत्तरदायी हैं। क्योंकि व्यवहार मूलतः हमारी दार्शनिक मान्यताओं और आस्थाओं का ही तो प्रतिबिम्ब एवं प्रकटन है। मानव के व्यवहार में भटकाव तथा विरोधाभास, कथनी तथा करनी में वैषम्य आदि संक्रमणकालीन दार्शनिक सोच की सहज परिणति है।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि वर्तमान युग के दार्शनिक झंझावत ने ऐसी परिस्थतियाँ निर्मित की हैं, जिनमें आज का मानव स्वयं को असहाय तथा थका हुआ अनुभव कर रहा है। अस्तु, यह आवश्यक है कि एक समन्वयवादी सोच के प्रति सामान्यजन की आस्था को पुष्ट किया जाये जो वैज्ञानिक सत्यों को स्वीकारते हुये जीवन के उदात्त मूल्यों को अंगीकार कर सकें।

1.2 समन्वयवादी दर्शन की आवश्यकता-

जीवन का उद्देश्य और आचार–शास्त्र विषयक मूल प्रश्न मनुष्य के चिन्तन की विषय वस्तु में सदैव ही प्राथमिकता पर रहे हैं। मनुष्य ने इन मूलभूत प्रश्नों का जितना ही अधिक चिन्तन तथा मनन किया है, उतने ही विविध रूपों में इन मौलिक प्रश्नों के उत्तर सामने आए हैं। यह बुद्धि की अक्षमता ही है कि विचारकों तथा दार्शनिकों ने एक प्रश्न के विविध उत्तर गढ़े हैं। मानव चिंतन के प्रतिफल विभिन्नवादों ने एक सर्वसामान्य सोच विकसित करने के स्थान पर विवादों को ही जन्म दिया है जिससे सामान्य जन के लिए दुष्कर है कि वह व्यवहार के किन मानकों का अनुसरण करे। यही नहीं विभिन्न विचारकों द्वारा दिये गये जीवन विषयक मौलिक प्रश्नों के उत्तर जिन्हें हम साहित्य की भाषा में दर्शन कहते हैं, कभी–कभी तो परस्पर विरोधी मान्याताओं का प्रतिपादन करते पाए गये हैं। वर्तमान समय में समाज में व्याप्त स्थिर मूल्यों के अभाव की स्थिति हमारे दार्शनिक विभ्रम की मनोदशा का ही द्योतक है। लोक व्यवहार और लोक जीवन में कथनी और करनी में विरोधाभास वस्तुतः हमारी आस्थाओं तथा विश्वासों में अर्न्तद्वन्द का परिणाम है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक प्रतीक होता है कि हम दार्शनिक अतिवाद से ऊपर उठकर परस्पर विरोधी विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं के सन्दर्भ में आग्रह–दुराग्रह से रहित होकर एक ऐसी समन्वयवादी सोच को विकसित करें जिसमें यह प्रतिध्वनि हो कि कोई विशिष्ट विचारधारा या दार्शनिक मत ही अन्तिम सत्य नहीं हैं। अपितु अन्य मत भी सत्य है क्योंकि विभिन्न दार्शनिक मतमतान्तरों के एक ही समय में अस्तित्व में रहने की स्थिति भी स्वयं यह स्पष्ट करती है कि इन विभिन्न मतों अथवा

विचारों में भी आंशिक सत्यता तो है ही, क्योंकि यदि उनमें पूर्णरुपेण सत्यता का अभाव होता है तो ये विचार अथवा मत अस्तित्व में ही न आये होते। वस्तुतः ये विभिन्न मत तथा दार्शनिक विचारधाराऐं अन्तिम सत्य के विविध सोपान अथवा चरण है। अतः इन विविध चरणों अथवा सोपानो में कोई चरण विशेष त्याज्य अथवा उपेक्षाणीय नहीं है, अपितु अन्तिम सत्य तक पहुँचने की अनुभूति की क्रमागत स्थितियों में से एक है। अस्तु, दार्शनिक तथा शिक्षाविदों के सम्मुख यह महत्वपूर्ण प्रश्न है कि विभिन्न दार्शनिक वाद–विवादों के मध्य किसी ऐसे समन्यवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव तथा प्रतिपादन किया जाए जिसमें सामान्य जन की आस्था हो और अन्ततः जो इनके व्यावहारिक जीवन का आधार बन सके तथा हमारे विद्यालय इन मान्यताओं और विश्वासों का नई पीढ़ी में संचार तथा उन्हें पुष्ट कर सकें जिनके प्रति समाज का वयस्क जन आस्थावान हो।

1.3 वर्तमान शोध की आवश्यकता एवं महत्व-

सामान्यतः मोटे तौर पर दार्शनिक दृष्टि से जीवन के मूलभूत प्रश्न दो विचारधाराओं में विभक्त हैं, जिनमें एक अध्यात्म मूलक है, जिसे प्राच्य दर्शन के नाम से जाना जाता है। इसका प्रतिनिधित्व भारतीय दर्शन तथा सांस्कृतिक मान्यताएँ करती हैं। इसके विपरीत एक सशक्त जड़वादी सोच भी है, जो प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानने के फलस्वरुप भोगवादी दर्शन तथा जीवन शैली का प्रतिपादन करती हैं, जिसे हम पाश्चात्य विचारधारा या पाश्चात्य संस्कृति का नाम देते हैं।

इसे देश का दुर्भाग्य ही कहेंगे कि हमारा देश सदियों–सदियों तक विदेशी आक्रान्ताओं का दास रहा है। फलस्वरुप हमारे आचार–विचार तथा मान्यताओं में भी

व्यापक परिवर्तन हुए हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् देश में हमने शिक्षा के जिस स्वरुप को अंगीकार किया, उसमें पाश्चात्य जीवन शैली तथा जीवन मूल्यों का आश्रय ग्रहण किया गया है तथा देश की सांस्कृतिक विरासत मात्र पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित रह गयी है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि न तो हम अपनी सांस्कृतिक विरासत के अध्येयता और उत्तराधिकारी ही बन सके और न पूर्णरुपेण पाश्चात्य जड़वादी सोच को ही अंगीकार कर सके। सच तो यह है कि आज भी देश का वह जन समुदाय जिसे हम अशिक्षित कहते हैं, अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत का वाहक है तथा उसके व्यवहार का नियामक तत्व एक चेतन सत्ता है, जबकि तथाकथित शिक्षित वर्ग उत्तरोत्तर आस्थाविहीन होता जा रहा है तथा उसके लिए पुरानी मान्यताएँ एवं चेतन सत्ता मूलक आस्थायुक्त जीवन शैली मात्र अन्ध विश्वास प्रतीत हो रहे हैं।

परिणामतः वर्तमान पीढ़ी द्वन्द के परिवेश में जीने के लिए विवश है तथा निराशा, कुण्ठा, हताशा, ईर्ष्या वैमनस्य इत्यादि उसकी नियति बन गयी है अतएव यह आवश्यक है कि हम नयी पीढ़ी के लिए एक ऐसा शैक्षिक परिवेश उपलब्ध करायें, जिसमें वर्तमान के विद्यालय हमारी सांस्कृतिक विरासत के प्रेरणास्रोत बन सकें तथा वे वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने के लिए सामर्थ्ययुक्त पीढ़ी का निर्माण करें।

भगवद्गीता भारतीय वाङ्मय में एक समन्वयवादी दर्शन का प्रतिपादन है। नन्द किशोर देवराज के शब्दों में 'भगवद्गीता' के रुप में आस्तिक हिन्दू धर्म और दर्शन ने यह प्रयत्न किया है कि भिन्न–भिन्न मतों एवं मार्गो का एक सशक्त समन्वय प्रस्तुत करे,

जबकि गीता का विशेष महत्व विभिन्न मोक्ष मार्गो के बीच समन्वय की स्थापना में है वहाँ तक उसका तत्व दर्शन भी निर्गुण और सगुण ब्रह्म, सांख्य के प्रकृतिवाद, प्राचीन उपनिषदों के ब्रह्मवाद और परवर्ती के उपनिषदों के ईश्वरवाद में समन्वय प्रस्तुत करने की दृष्टि से नगण्य नहीं है।[1]

वस्तुतः गीता में प्रतिपादित आध्यात्म मूलक दार्शनिक मान्यता एक व्यावहारिक दर्शन है जो स्पष्ट उद्घोष करता है कि अध्यात्म मात्र एक बौद्धिक विलास नहीं, अपितु यह आचार शास्त्र तथा एक उत्कृष्ट जीवन शैली है।

अस्तु, वर्तमान परिवेश में यह समीचीन होगा कि गीता दर्शन में प्रतिपादित सिद्धांतों तथा उसमें निहित शैक्षिक मर्मो का तात्विक विवेचन किया जाए तथा एक ऐसे व्यावहारिक शिक्षा दर्शन का प्रतिपादन किया जाए जो वर्तमान के झंझावातों में मानव के व्यवहार के लिए सशक्त पथ प्रदर्शक बन सके।

जहाँ तक गीता–दर्शन पर अद्यतन सम्पन्न शोध कार्यो का प्रश्न है, उनमें अधिकांश शोध कार्य संस्कृत साहित्य तथा दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत किए गये हैं तथा गीता दर्शन का शैक्षिक दृष्टि से अध्ययन नगण्य है, तथापि चटर्जी (1950) के० दास० (1975), जे०बी० पाण्डेय (1985) एच० केशरी (1986) आदि के द्वारा सम्पन्न शोध कार्य एवं तद्जनित शोध निष्कर्ष महत्वपूर्ण है। अस्तु श्रीमद्भगवद् गीता पर पूर्व में सम्पन्न शोध कार्यों की अल्पता की दृष्टि से भी वर्तमान शोध आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।

---

1. **नन्द किशोर देवराज "भारतीय दर्शन" पृष्ठ–100**

शोधकर्ता को पूर्ण विश्वास है कि वर्तमान शोध के निष्कर्ष विभ्रमग्रस्त वर्तमान शिक्षा–पद्धति को उपयुक्त दार्शनिक आधार भूमि प्रदान करेंगे।

1.4 समस्या कथन-

गीता दर्शन पर प्रस्तावित वर्तमान अध्ययन का अधोलिखित शीर्षक है–**"वर्तमान परिवेश में गीता–दर्शन के शैक्षिक निहितार्थों का समालोचनात्मक अध्ययन।"**

1.5 वर्तमान शोध के उद्देश्य

प्रस्तुत शोध के अधोलिखित प्रमुख उद्देश्य है :–

1. भगवद्गीता में प्रतिपादित दर्शन का संक्षिप्त विवेचन करना।
2. भगवद्गीता में प्रतिपादित आधार भूत सिद्धांतों का विवेचन करना।
3. भगवद्गीता में अधोलिखित परिप्रेक्ष्य में निहित मान्याताओं का विवेचन करना।

   अ. जीवन का उद्देश्य ।

   ब. शिक्षा की संकल्पना ।

   स. शिक्षा के उद्देश्य ।

   द. पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधि तथा मूल्यांकन ।

   य. शिक्षा एवं शिक्षार्थी के गुण ।

   र. शिक्षक एवं शिक्षार्थी के पारस्परिक सम्बन्ध।

4. वर्तमान परिवेश में गीता के शैक्षिक निहितार्थों का मूल्यांकन।

1.6 वर्तमान शोध का परिसीमन-

भगवद् गीता को भारतीय दर्शन का सार माना जाता है। ऐसी स्थिति में गीता में प्रतिपादित विभिन्न पक्षों का समग्र रूप में समावेश वर्तमान शोध में सम्भव नहीं है। अतएव प्रस्तुत शोध में गीता के दार्शनिक पक्ष का संक्षिप्त विवेचन किया गया है जब कि गीता की कथा वस्तु में निहित शैक्षिक निहितार्थों का अध्ययन मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

शिक्षण विधि—गीता दर्शन पर सम्पन्न विविध शोध, उपलब्ध भाष्यों तथा टीकाओं को प्रस्तुत शोध विषय का आधार बनाया गया है। अतः वर्तमान शोध की विधि दार्शनिक विवेचनात्मक विधि है।

1.7 प्रयुक्त शब्दों का परिभाषीकरण-

शैक्षिक निहितार्थ :— गीता भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख प्रतिनिधि ग्रन्थ है। गीता में श्री कृष्ण द्वारा मोह ग्रस्त अर्जुन को कराये गये कर्तव्य—बोध के माध्यम से भारतीय दर्शन तथा संस्कृति पर विहंगम प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत शोध में शैक्षिक निहितार्थ से तात्पर्य गीता में शिक्षा की द्रृष्टि से निहित संदेशों को उद्घाटित करना है। दूसरे शब्दों में गीता के उपदेश में प्रकारान्तर से जीवन के उद्देश्य, शिक्षा की संकल्पना, शिक्षा के उद्देश्य इत्यादि के सन्दर्भ में निहित मर्म को उद्घाटित करना है, अर्थात् गीता के उपदेश के माध्यम से कही गयी कथा में प्रकारान्तर से दिये गये संदेशों का शिक्षा के स्वरूप के निर्धारण हेतु सामान्यी करण करना है।

समालोचना :– समालोचना शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने की दृष्टि से इस शब्द का सन्धि- विच्छेद करना युक्ति संगत है। समालोचना का सामान्य सन्धि–विच्छेद है सम्+आलोचना, जिसमें सम् का अर्थ है सम्यक् रूप से तथा आलोचना से तात्पर्य है देखना। इस प्रकार समालोचना शब्द से आशय किसी विषय वस्तु अथवा व्यक्ति में गुण और दोषों का आग्रह–दुराग्रह रहित होकर सम्यक् रूप से अवलोकन करना। प्रस्तुत शोध में समालोचना से तात्पर्य गीता की कथा वस्तु के आधार पर शिक्षा के प्रतिपादित स्वरूप की वर्तमान परिस्थितियों में प्रासंगिकता तथा उपादेयता की विवेचना करना।

द्वितीय अध्याय : सम्बन्धित साहित्य का सिंहावलोकन

2.1. गीता का रचनाकाल

2.2. गीता की दार्शनिक दृष्टि

2.3. गीता में समन्वयवाद

2.5. गीता दर्शन पर सम्पन्न शोध निष्कर्ष

अध्याय - 2

सम्बन्धित साहित्य का सिंहावलोकन

भूमिका—प्रस्तुत अध्याय में अनुसन्धान कर्ता ने गीता का रचनाकाल एवं गीता की दार्शनिक दृष्टि, गीता के समस्त अध्याय उनके श्लोकों की संख्या एवं कथावस्तु तथा प्रत्येक अध्याय के विषयों का संक्षेप में परिचय भी प्रस्तुत अध्याय की विषय वस्तु में समाहित है। गीता में समन्वयवाद एवं गीता दर्शन पर सम्पन्न शोध निष्कर्ष प्रस्तुत अध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं।

2.1 गीता का रचनाकाल-

गीता महाभारत का एक लघु विभाग है और महाभारत युद्ध को हम एक ऐतिहासिक घटना मानते हैं अतःएव गीता का प्रवचन एक ऐतिहासिक प्रवचन ही माना जाएगा और जब यह ऐतिहासिक प्रवचन है तो इसका कथन काल जानना आवश्यक है।

निःसन्देह महाभारत जो लिखा गया, तब गीता को भी लिपिबद्ध किया गया। जैसे ऐतिहासिक घटनाएँ घटने के बाद ही लिखी जाती हैं, उसी प्रकार गीता का प्रवचन भी, किए जाने के पश्चात् ही लिपिबद्ध हुआ है। किसी भी रूप में अथवा किसी भी आकार और विस्तार में रहा हो, यह गीता प्रवचन युद्धकाल में अर्थात् युद्ध के समय अवश्य हुआ था, ऐसी धारणा है।

अतः महाभारत युद्ध के काल को जानने से ही गीता प्रवचन का काल जाना जा सकता है। गीता महाभारत के लिपिबद्ध होने के समय ही लिपिबद्ध हुई है। महाभारत

ग्रन्थ के लिपिबद्ध होने का समय महाभारत ग्रन्थ के रचयिता श्री महर्षि व्यास जी स्वयं लिखते हैं कि वे महाभारत युद्ध के समय जीवित थे। महर्षि व्यास जी ने अपने जन्म, अपनी शिक्षा, दीक्षा और महाभारत युद्ध के पात्रों से अपना सम्बन्ध तथा व्यवहार का वर्णन किया है। अतः महाभारत युद्ध के समीप काल में ही महाभारत ग्रन्थ की रचना हुई है। इसका अभिप्राय यह है कि महाभारत ग्रन्थ का रचनाकाल महाभारत युद्ध के समीप ही माना जाना चाहिए।

कुछ लोगों का मत है कि गीता पृथक लिखी गयी और पीछे महाभारत में प्रक्षिप्त की गयी है। यह संशय उस समय उत्पन्न हुआ जब शंकराचार्य ने यह बताया कि गीता निवृत्ति मार्ग को दिखाने वाला ग्रन्थ है। महाभारत में यत्र–तत्र भगवत् परायण को कर्म करने की महिमा गायी गयी है। अतः शंका करने वाले कहते हैं कि गीता जो शंकराचार्य के कथानुसार निवृत्ति मार्ग और जगत् से उपराम होने का उपदेश देती है, महाभारत का अंग नहीं हो सकती।

भगवद्गीता के विषय में इतना कहा जा सकता है कि यह पाणिनी के संस्कृत भाषा को नियमित करने से पहले की लिखी हुई है। कारण यह है कि गीता में ऐसे पद और योग उपस्थित हैं, जो पाणिनी ने अशुद्ध कह दिये हैं। उदाहरण के रूप में गीता[1] 'नमस्कृत्वा', 'शक्य अहं'[2], 'सेनानीन'[3]। ये सब प्रयोग पाणिनी के अनुसार अशुद्ध हैं।

1. **एतच्छुत्वा वचनं केशवस्य, कृतात्रजलिर्वेपमानः किरीटी।**
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं, सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।। (गीता अध्याय 11 श्लोक – 35)
2. **न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानै, र्न च क्रियामिर्न तपोभिरुगैः।**
एवं रुपः शक्य अहं नृलोके, द्रष्टुं त्वदन्मेन कुरूप्रवीर।। (गीता अध्याय 11 श्लोक – 48)
3. **पुरोधसां च मुख्यं विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।**
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।। (गीता अध्याय 10 श्लोक – 24)

यदि भगवद्गीता पाणिनी के उपरान्त लिखी गयी होती तो ये अशुद्ध प्रयोग न किये जाते।[1]

भारतीय मत के अनुसार महाभारत और गीता दोनों ग्रन्थ पाणिनी से पहले के रचे ग्रन्थ हैं। यूरोपीय विद्वान महाभारत को तो ईशा पश्चात् पहली शती की रचना मानते हैं। इससे यह बात निर्विवाद हो जाती है कि यूरोपीय विद्वानों का यह कथन सर्वथा मिथ्या है कि पाणिनी महाभारत से पहले हुआ था। भारतीय मतानुसार पाणिनी, कलयुग सम्वत् दो सौ के लगभग हुआ था।[2]

गीता और महाभारत के एक ही लेखक से लिखे होने का सबसे प्रबल प्रमाण यह है कि गीता और महाभारत के अनेक स्थलों मे समान वर्णन है। कहीं–कहीं तो पूर्ण श्लोक समान है। गीता श्लोक[3] का दूसरा आधा भाग भीष्म पर्व[4] के आधे से समता रखता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गीता और महाभारत एक ही लेखनी से लिखे गए है इस प्रकार के कई स्थान हैं।

मगध में वृहद्रथ एक राजा था, जिसने महाभारत युद्ध में भाग लियाा था और वह युद्ध में मारा गया था। उसका उत्तराधिकारी सोमाधि राजगद्दी पर बैठा था परन्तु वंश वृहद्रथ का ही कहलाया। वृहद्रथ वंश में 22 राजा हुए और उनका राज्यकाल 1000 वर्ष

---

1. श्री बाल गंगाधर तिलक द्वारा लिखे 'गीता रहस्य' के गीता और महाभारत प्रकरण पृष्ठ 516
2. श्रीमद् भगवद् गीता – एक अध्ययन पृष्ठ 41
3. स्वधर्म चावेक्ष्य न विकम्पितु मर्हसि।
   धर्म्याद्धि युद्धाच्छेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।
4. भीष्मपर्व – 122/37

था। श्री द्विवेदी जी ने भिन्न–भिन्न पुराणों के मिलान से यह काल 151 वर्ष का माना है।[1]

वृहद्रथ वंश के उपरान्त प्रद्योत वंश हुआ। इस वंश में 5 राजा हुए और इनका राज्यकाल 138 वर्ष था। तदनन्तर शिशुनांक वंश के 10 राजाओं ने 362 वर्ष राज्य किया। शिशुनाग के उपरान्त महापद्मनन्द वंश आया, इसमें 9 राजा हुए और उनका राज्यकाल 100 वर्ष था।

महापद्मनन्द के उपरान्त मौर्य वंश का राज्य हुआ। इस वंश के 10 राजा हुए थे इनका राज्यकाल 137 वर्ष था।[2] मौर्यवंश के उपरान्त शुंगपरिवार के पुष्यमित्र ने शुंग वंश चलाया। शुंग–वंश में भी 10 राजा हुए और इनका राज्यकाल 112 वर्ष है। शुंग–वंश के उपरान्त कण्व वंश के चार राजाओं ने 45 वर्ष तक राज्य किया; इसके बाद आन्ध्र–वंश आया, इनके 30 राजा हुए उन्होंने 456 वर्ष तक राज्य किया। आन्ध्र–वंश के अन्त के समय सप्तर्षि नक्षत्र मण्डल चौबीसवें नक्षत्र के मध्य में था अर्थात् 2350 वर्ष हुए।

उक्त वंशावलियों का राज्यकाल जोड़ने पर 2301 वर्ष बनते हैं। इस प्रकार राज्य तिथि काल के आधार पर महाभारत युद्ध काल आज से 5068 वर्ष पूर्व बनता है। पुराणों के अनुसार आन्ध्र वंश का अन्त लगभग ढाई हजार वर्ष युद्ध के उपरान्त हुआ। यही बात सप्तर्षि नक्षत्र मण्डल से प्रतीत होता है, इस प्रकार पुराणों की गणना अन्य गणनाओं से मिलती जुलती है।[3]

1. श्रीमद्भगवद् गीता – एक अध्ययन पृष्ठ – 31
2. श्रीमद्भगवद् गीता – एक अध्ययन पृष्ठ – 31
3. सप्तर्षयो ह्ययाघायुक्ता काले परीक्षिते शतम्।(ब्रह्मपुराण पेज– 235)

गीता काल का निर्णय महाभारत काल से किया गया है। यहाँ पर हम कुछ प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं जिनमें गीता के काल का स्पष्ट उल्लेख है। सर्वप्रथम यह बता देना आवश्यक है कि परलोकवासी तैलंग ने गीता को आप स्तंब के पहले की अर्थात् ईशा से कम से कम तीन सौ वर्ष से अधिक प्राचीन कहा है।[1] डाक्टर भण्डारकर ने अपने 'वैष्णव, शैव आदि पन्थ' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ में प्रायः इसी काल को स्वीकार किया है। प्रो० गार्वे[2] के मतानुसार तैलंग द्वारा निश्चित किया गया काल ठीक नहीं है। उनका यह कथन है कि मूल गीता की रचना ईसा से पहली दूसरी सदी में हुयी, और ईसा के बाद दूसरे शतक में उसमें कुछ सुधार किए गए हैं, परन्तु नीचे लिखे गए प्रमाणों से यह भली-भाँति प्रगट हो जायेगी कि गार्वे का उक्त कथन ठीक नहीं है।

(क) गीता पर जो टीकाएँ या भाष्य उपलब्ध हैं, उनमें शांकर भाष्य अत्यन्त प्राचीन है। श्री शंकराचार्य ने महाभारत के सनत्सुजीय प्रकरण पर भी भाष्य लिखा है और उनके ग्रन्थों में महाभारत के मनु-वृहस्पति संवाद, शुकानुप्रश्न और अनुगीता में से बहुतेरे वचन अनेक स्थानों पर प्रमाणार्थ लिया गया है। इससे यह बात प्रकट है कि उनके समय में महाभारत और गीता दोनों प्रमाणभूत माने जाते थे। प्रो० काशीनाथ बापू पाठक ने एक साम्प्रदायिक श्लोक के आधार पर श्री शंकराचार्य का जन्म 845 विक्रमी संवत् 710 निश्चित किया है।[3] क्योंकि महानुभाव पंथ के 'दर्शन प्रकाश' नामक ग्रन्थ

1. आद्यान्ते च चतुर्विशो भविष्यति शतं समाः। (ब्रह्मपुराण पेज- 236)
2. (क) तैलंग - भगवद्गीता, सी.बी.ई. वा, वा० 8 (इन्ट्रोडक्शन पेज- 21)
   (ख) भण्डारकर - विष्णुविस्म, शेवविस्म एण्ड अदर सेक्टस
   (ग) गार्वे - डी भगवद् गीता पृष्ठ - 64
3. गीता अथवा कर्मयोगशास्त्र (गीता की बहिरंग परीक्षा पेज - 569)

में यह कहा है कि– 'युग्सपयोधिरसान्वितशाके' अर्थात् 642 (विक्रमी संवत् 777) में श्री शंकराचार्य ने गुहा में प्रवेश किया, और उस समय उनकी आयु 32 वर्ष की थी। अतएव यह सिद्ध होता है कि उनका जन्म शक 610 (संवत् 745) में हुआ। हमारे मत से यही समय प्रो० पाठक द्वारा निश्चित किए हुए काल से कहीं अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है। गीता पर जो शांकर भाष्य है, उसमें पूर्व समय के अधिकांश टीकाकारों का उल्लेख किया गया है और उक्त भाष्य के आरम्भ में ही शंकराचार्य ने कहा है, कि इन टीकाकारों के मत का उल्लेख किया गया है और भाष्य के आरम्भ में ही शंकराचार्य ने कहा है, कि इन टीकाकारों के मतों का खण्डन करके हमने नया भाष्य लिखा है। अतएव आचार्य का जन्मकाल चाहे शक 610 लीजिए या 710, इसमें तो कुछ भी सन्देह नहीं कि उस समय के कम से कम दो–तीन सौ वर्ष पहले अर्थात् 400 शक के लगभग गीता प्रचलित थी।

(ख) परलोकवासी तैलंग ने यह दर्शाया है कि कालिदास और बाणभट्ट गीता से परिचित थे।[1] कालिदास कृत रघुवंश (10/31) में विष्णु की स्तुति के विषय में जो 'अनवाप्त मवाप्तव्यं न ते किन्चितविद्यते' यह श्लोक है, वह गीता के (3/22) 'नानवाप्तमवाप्तव्यं' श्लोक से मिलता है और बाणभट्ट की कादम्बरी के 'महाभारत–मिवानन्तगीता कर्णनानन्दितततर' इस एक श्लेष प्रधान वाक्य में गीता का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। कालिदास और भारवि का उल्लेख स्पष्ट रुप से

1. **गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र** (गीता की बहिरंग परीक्षा पृष्ठ – 569)

संवत् 691 के एक शिला लेख में पाया जाता है।[1] और अब यह भी निश्चित हो चुका है, कि बाणभट्ट का समय संवत् 663 के लगभग हर्ष राजा के समय था। इस बात का विवेचन परलोकवासी पाण्डुरंग गोविन्द शास्त्री पारवी ने बाणभट्ट पर लिखे हुए अपने एक मराठी निबन्ध में किया है।

(ग) जीवा द्वीप में जो महाभारत ग्रन्थ यहाँ से गया है, उसके भीष्म पर्व में एक गीता प्रकरण है, जिसमें गीता के भिन्न–भिन्न अध्यायों के लगभग सौ श्लोक अक्षरशः मिलते हैं। सिर्फ 12, 14, 16 और 17 इन चार अध्यायों के श्लोक इसमें नहीं हैं। इससे यह कहने में कोई आपत्ति नहीं दीख पड़ती कि उस समय भी गीता का स्वरुप वर्तमान गीता के सदृश ही था क्योंकि कवि भाषा में यह गीता का अनुवाद है, और उसमें जो संस्कृत श्लोक मिलते हैं, वे बीच–बीच में उदाहरण तथा प्रतीक के तौर पर ले लिए गए हैं। इससे यह अनुमान करना युक्तिसंगत नहीं कि उस समय गीता में केवल उतने ही श्लोक थे। जब डॉक्टर नरहर गोपाल देसाई जावा द्वीप को गए थे, तब उन्होंने इस बात की खोज की है। इस विषय का वर्णन कलकत्ते के 'मार्डन रिव्हयू' नामक मासिक पत्र के जुलाई 1994 के अंक में तथा अन्यत्र भी प्रकाशित हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि शक चार–पाँच सौ के पहले कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व महाभारत के भीष्म पर्व में गीता थी, और उसके श्लोक भी वर्तमान गीता श्लोकों के क्रमानुसार ही थे।

(घ) विष्णु पुराण और पद्म पुराण आदि ग्रन्थों में भगवद् गीता के नमूने पर बनी

---

1. **गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र (गीता की बहिरंग परीक्षा पृष्ठ – 569)**

हुयी जो अन्य गीताएँ दीख पड़ती हैं अथवा उनके पाए जाते हैं, उनका वर्णन इस ग्रन्थ के पहले प्रकरण में किया गया है। इससे यह बात स्पष्टतया विदित होती है कि उस समय भगवद्गीता प्रमाण तथा पूजनीय मानी जाती थी। इसीलिए उसका उक्त प्रकार से अनुकरण किया गया है, और यदि ऐसा न होता तो, उसका कोई भी अनुकरण न करता। अतएव सिद्ध है कि इन पुराणों में जो अत्यन्त प्राचीन पुराण है, उनसे भी भगवद्गीता कम से कम सौ दो सौ वर्ष अधिक प्राचीन होगी। पुराणकाल का आरम्भ समय सन् ईस्वी के दूसरे शतक से अधिक अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। अतएव गीता का काल कम से कम शकारम्भ के कुछ थोड़ा पहले ही माना जाता है।

(च) ऊपर हम बतला चुके हैं कि कालिदास और बाणभट्ट गीता से परिचित थे। कालिदास से पुराने भास कवि के नाटक हाल ही में प्रकाशित हुए हैं। उनमें से एक श्लोक इस प्रकार है–

हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वातुलभते यशः।

उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे।।[1]

यह श्लोक गीता के 'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गम्'[2] श्लोक के समानार्थक है और जब कि भास कवि के अन्य नाटकांक से यह प्रकट होता है कि वह महाभारत से पूर्णतया परिचित थे, तब तो यही अनुमान किया जा सकता है कि उपयुक्त श्लोक लिखते समय उनके मन में गीता का उक्त श्लोक अवश्य आया होगा अर्थात् यह सिद्ध होता है कि

1. **'कर्णभार' नामक नाटक में बारहवाँ श्लोक**
2. **हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।**
   तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृत निश्चयः।। (गीता अध्याय 2 श्लोक 37)

भास कवि के पहले भी महाभारत और गीता का अस्तित्व था। पं० त० गणपति शास्त्री ने यह निश्चित किया है कि भास कवि का काल शक के सौ या सौ वर्ष बाद हुआ है। यदि दूसरे मत को मानें तो भी उपर्युक्त प्रमाण से सिद्ध हो जाता है कि भास से कम से कम सौ दो सौ वर्ष पहले अर्थात् शक काल के आरम्भ में महाभारत और गीता दोनों ग्रन्थ सर्वमान्य हो गए थे।

(छ) प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा गीता के श्लोक लिये जाने का और भी अधिक सुदृढ़ प्रमाण, परलोकवासी त्र्यंबक गुरूनाथ काले के गुरूकुल की 'वैदिक मैगजीन' नामक अंग्रेजी मासिक पुस्तक[1] में प्रकाशित किया किया है। इसके पश्चिमी संस्कृत पण्डितों का यह मत था कि संस्कृत काव्य तथा पुराणों की अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन ग्रन्थों में–उदाहरणार्थ सूत्र ग्रन्थों में भी– गीता का उल्लेख नहीं पाया जाता और इसीलिए यह कहना पड़ता है कि सूत्र काल के बाद अर्थात् अधिक से अधिक सन् ईसवी की पहली दूसरी सदी में गीता बनी होगी। परन्तु परलोकवासी काण्ठे ने प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि यह मत ठीक नहीं है। बौधायन गृहशेष सूत्र[2] में गीता का श्लोक[3] 'तदाह भगवान्' कहकर स्पष्ट रूप में लिया गया है जैसे–

देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्यान्मनसावार्चयेदति।

तदाह भगवान पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।

तदहं भक्त्युपहतमश्रामि प्रयतात्मनः।। इति०

---

1. **पुस्तक सात अंक 6–7 पृष्ठ– 428, 432**
   मार्गशीर्ष और पौष सं० 1970
2. **बौधायन गृहयशेष सूत्र 2/22/9**
3. **पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।**
   तदहं भक्त्युपहतमश्नामि प्रयताम्तनः।। (गीता अध्याय 9 श्लोक 26)

और आगे चलकर कहा है कि भक्ति से मग्न होकर मन्त्रों को पढ़ना चाहिए 'भक्ति नम्रः एतान् मन्त्रान्धीयती'। उसी गृह्यशेष सूत्र के तीसरे प्रश्न के अन्त में यह भी कहा है कि 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाक्षर मन्त्र का जाप करने से अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है। इससे यह बात पूर्णतया सिद्ध होती है, कि बौधायन के पहले गीता प्रचलित थी और वासुदेव पूजा भी सर्व सामान्य समझी जाती थी। इसके सिवा बौधायन के पितृमेध सूत्र के द्वितीय प्रश्न के आरम्भ में ही यह वाक्य है– "जातस्य वै मनुष्यस्य एवं मरणामिति विजानीयातस्माज्जाते न प्राहष्येन्मृते च न विपीदेत्।"

इससे सहज ही दिखााई पड़ता है, यह गीता के 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु ध्रुवं जन्म मृतस्य च। तस्मादपरिहार्येऽर्थें न त्वं शोचितुमर्हसि'। इस श्लोक से सूझ पड़ा होगा और उसमें उपर्युक्त 'पत्रं पुष्पं' श्लोक का योग देने से तो कुछ शंका ही नहीं रह जाती। स्वयं महाभारत का एक श्लोक बौधायन सूत्रों में पाया जाता है। बुल्हर साहब ने निश्चित किया है।[1] कि बौधायन का काल आपस्तंब के सौ दो सौ वर्ष पहले होगा और आपस्तंब का काल ईसा के पहले तीन सौ वर्ष से कम हो नहीं सकता। परन्तु हमारे मतानुसार उसे और हटाना चाहिए, क्योंकि महाभारत में मेष–वृषभ आदि राशियाँ नहीं हैं, और 'कालमधाव' में तो बौधायन का 'मीनमेषयोर्वृषभयोर्वासन्त' यह वचन दिया गया है। यही वचन परलोकवासी शंकर बालकृष्ण दीक्षित के भारतीय ज्योतिः शास्त्र (पृष्ठ 102) में लिखा गया है। इससे भी यही निश्चित अनुमान किया जा सकता है कि महाभारत बौधायन के पहले का है। शकारम्भ के कम से कम चार सौ वर्ष पहले बौधायन का समय होना

---

1. **महाभारत शं. पृ० 336/10, 11**

चाहिए, और सौ वर्ष पहले महाभारत तथा गीता का अस्तित्व था। परलोकवासी काले ने बौधायन का काल ईसा के सात–आठ सौ वर्ष पहले का निश्चित किया, किन्तु यह ठीक नहीं : जान पड़ता है कि बौधायन का राशि विषयक वचन उनके ध्यान में आया होगा।

(ज) उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात किसी को भी स्पष्ट विदित हो जायेगी कि वर्तमान गीता शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले अस्तित्व में थी, बौधायन तथा आश्वालयन भी उससे परिचित थे, और उस समय से श्री शंकराचार्य के समय तक उसकी परम्परा अविच्छिन्न रूप में दिखलाई जा सकती है। परन्तु अब तक जिन प्रमाणों का उल्लेख किया गया है, वे सब वैदिक धर्म के ग्रन्थों से लिया गया है। अब जो प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं वह वैदिक धर्मग्रन्थों से भिन्न अर्थात् बौद्ध साहित्य का है। इससे गीता की उपर्युक्त प्राचीनता स्वतन्त्र रीति से और भी अधिक दृढ़ तथा निःसंदिग्ध हो जाती है। बौद्ध धर्म के पहले भागवत् धर्म का उदय हो गया था। इस विषय में बुल्हर और प्रसिद्ध फ्रेंच पण्डितसनार्त के मतों का उल्लेख पहले हो चुका है। भागवत् धर्म बौद्ध धर्म के पहले का है, केवल इतना कह देने से ही इस बात का निश्चय नहीं किया जा सकता, कि गीता भी बुद्ध के पहले थी। क्योंकि यह कहने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि भागवत धर्म के साथ ही साथ गीता का भी उदय हुआ। अतएव यह देखना आवश्यक है कि बौद्ध ग्रन्थकारों ने गीता–ग्रन्थ का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया है या नहीं ? प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि बुद्ध के समय चार वेद, वेदांग, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास, निघण्टु आदि वैदिक धर्म ग्रन्थ प्रचलित हो चुके थे। अतएव इसमें

सन्देह नहीं कि बुद्ध के पहले ही वैदिक धर्म पूर्णावस्था में पहुँच चुका था। इसके बाद बुद्ध ने जो नया पन्थ चलाया, वह अध्यात्म की दृष्टि से अनात्मवादी था; परन्तु उसमें आचरण की दृष्टि से उपनिषदों के सन्यास मार्ग का ही अनुकरण किया गया था। अशोक के समय बौद्ध धर्म की यह दशा बदल गयी थी। बौद्ध भिक्षुओं ने जंगलों में रहना छोड़ दिया था। धर्म प्रसारार्थ तथा परोपकार का काम करने के लिए वे लोग पूर्व की ओर चीन में और पश्चिम की ओर अलेक्जेड्रिया तथा ग्रीस तक चले गए थे। परन्तु बौद्ध भिक्षुओं का जब यह मूल सन्यास प्रधान आचार बदल गया और जब वे परोपकार के काम करने लगे, तब नए तथा पुराने मतों में झगड़ा हो गया। पुराने लोग अपने को 'थेरवाद' (बुद्ध पन्थ) कहने लगे, और नवीन मतवादी अपने पन्थ का 'महायान' नाम रख करके पुराने पन्थ को 'हीनयान' (अर्थात् हीन पन्थ) के नाम से सम्बोधित करने लगे। अश्वघोष महायान पन्थ का था और वह इस मत को मानता था कि बौद्ध यती लोग परोपकार से काम किया करें। अतएव 'सौन्दरानन्द'[1] काव्य के अन्त में जब नन्द अर्हतावस्था में पहुँच गया, तब उसे बुद्ध ने जो उपदेश दिया है, उसमें पहले यह कहा है—अवाप्तकार्योऽसि परां गतिं गतः ने तेऽस्तिकिंचित्करणीयम्ण्वपि। अर्थात् 'तेरा कर्तव्य हो चुका, तुझे उत्तम गति मिल गयी है। अब तेरे लिए तिल भर भी कर्तव्य नहीं रहा' और आगे स्पष्ट रूप से उपदेश किया गया है।

विहाय तस्मादिह कार्यमात्मनः कुरू स्थिरात्मन्परकार्यमप्यथो।।

अर्थात् 'अतएव अब तू अपना कार्य छोड़ बुद्धि को स्थिर करके पर कार्य किया

---

1. **लोकमान्य बालगंगाधर तिलक गीता रहस्य (हिन्दी) पृष्ठ—548**

करे'।[1] बुद्ध के कर्मत्याग विषयक उपदेश में–जो प्राचीन ग्रन्थों में पाया जाता है– तथा इस उपदेश में (कि जिसे 'सौन्दरानन्द' काव्य में अश्वघोष ने बुद्ध के मुख से कहलाया है) अत्यन्त भिन्नता है और अश्वघोष की इन दलीलों में तथा गीता के तीसरे अध्याय में जो युक्ति प्रयुक्तियाँ हैं, उनमें "तस्यकार्यं न विद्यते................ तस्मादसक्तः सततं कार्य कर्म समाचर" अर्थात् तेरे में कुछ रह नहीं गया है। इसलिए जो कर्म प्राप्त हो, उसको निष्काम बुद्धि से किया कर' इसमें अर्थदृष्टि से ही शब्दशः समानता है। अतः इससे यह अनुमान होता है, कि ये दलीलें अश्वघोष को गीता से ही मिली है, क्योंकि अश्वघोष से पहले महाभारत था।

बुद्ध धर्मानुयायियों ने बुद्ध धर्म विषयक इतिहास सम्बन्धी जो ग्रन्थ तिब्बती भाषा में लिखा है, उसमें बौद्ध के पूर्वकालीन सन्यास मार्ग में 'महायान' पन्थ ने जो कर्मयोग विषयक सुधार किया था, उसे ज्ञानी श्रीकृष्ण और गणेश से महायान पन्थ के मुख्य पुरस्कर्ता नागार्जुन के गुरू राहुल भद्र ने जाना था। इस ग्रन्थ का अनुवाद रूसी भाषा से जर्मन भाषा में किया गया है। डॉ० केर्न ने 1899 ई० में बुद्ध धर्म पर एक पुस्तक लिखी थी।[2] यहाँ उसी से हमने यह अवतरण लिया है। डॉ० केर्न का भी यही मत है कि यहाँ पर श्रीकृष्ण के नाम से भगवद्गीता का ही उल्लेख किया गया है। महाय्रान पन्थ के बौद्ध ग्रन्थों में से 'सदुर्मपुण्डरीक' नामक ग्रन्थ में भी भगवद्गीता के श्लोकों के समान कुछ श्लोक हैं। पश्चिमी पण्डितों का निश्चय है कि महायान पन्थ का पहला पुरस्कर्ता नागार्जुन शक के लगभग सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले हुआ होगा और यह तो स्पष्ट ही है,

---

1. **सौन्दरानन्द 18/67**
2. **डॉ० केर्न – मैनुअल आफ इण्डियन बुद्धिज्म गराउण्डरी यस्तृतीय** – 8 पुष्ठ 122 महायान पन्थ के 'अभितायुसुत्त' नामक मुख्य ग्रन्थ का अनुवाद चीनी भाषा में सन् 148 के लगभग हो गया था।

कि इस ग्रन्थ का बीजारोपण अशोक के राजशासन के समय में हुआ होगा। बौद्ध ग्रन्थों से तथा स्वयं बौद्ध ग्रन्थकारों के लिखे हुए उस धर्म के इतिहास से यह बात स्वतन्त्र रीति से सिद्ध हो जाती है कि भगवद्गीता महायान पन्थ के जन्म से पहले–अशोक से भी पहले–यानी सन् ईसवी से लगभग 300 वर्ष पहले ही अस्तित्व में थी।

इन सब प्रमाणों पर विचार करने से इसमें कुछ भी शंका नहीं रह जाती कि वर्तमान भगवद्गीता शालीवाहन शक के लगभग पाँच सौ वर्ष पहले ही अस्तित्व में थी। डॉ० भण्डारकर, परलोकवासी तैलंग, रावबहादुर चिन्तामणि राव वैद्य और परलोकवासी दीक्षित का मत भी इससे बहुत कुछ मिलता जुलता है और उसी को यहाँ ग्राह्य मानना चाहिए। हाँ प्रो० गार्वे का मत भिन्न है, उन्होंने उसके प्रमाण में गीता के चौथे अध्याय वाले सम्प्रदाय परम्परा के श्लोकों में से इस 'योगीनष्ट' का नाश हो गया– वाक्य को लेकर योग शब्द का अर्थ 'पातन्जलि योग' किया है। परन्तु हमने प्रमाण सहित बतला दिया है कि वहाँ योग शब्द का अर्थ 'पातन्जलि योग' नहीं– 'कर्म योग' है। इसलिए प्रो० गार्वे का मत ब्रह्म मूलक एवं अग्राह्य है। यह बात निर्विवाद है कि वर्तमान गीता का काल शालीवाहन शक के पाँच सौ वर्ष पहले की अपेक्षा और कम नहीं माना जा सकता।

भगवद् गीता की रचना उस महान आन्दोलन के बाद की है, जिसका प्रतिनिधित्व प्रारम्भिक उपनिषदें करती हैं। महाभारत का एक भाग होने से कभी–कभी यह शंका की जाती है कि गीता को बाद में चलकर महाभारत में मिला दिया गया है। तैलंग भी विशेषकर इसी निर्णय के साथ सहमत होते हुए कहते हैं कि 'भगवद् गीता एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जिसे महाभारत के ग्रन्थकार ने अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिए महाभारत

में प्रविष्ट करा लिया है।[1] परन्तु महाभारत में कई स्थानों पर भगवद् गीता का उल्लेख मिलता है, जो यही संकेत करता है कि महाभारत के निर्माण काल से ही गीता को उसका एक वास्तविक भाग माना जाता रहा है।[2] दोनों को एक मान लेने पर भी गीता के रचनाकाल का ठीक–ठीक निर्णय नहीं हो पाता है। तैलंग ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी को गीता का रचनाकाल मानते हैं। आर० जी० भण्डारकर ईसा पूर्व चौथी शताब्दी को गीता का रचनाकाल मानते हैं, तथा गार्वे गीता के प्रारम्भिक आकार को ईसा से दो सौ वर्ष पूर्व और वर्तमान गीता को ईसा से दो सौ वर्ष पश्चात् मानते हैं। विभिन्न मतभेदों को ध्यानगत रखते हुए इसकी प्राचीन वाक्य रचना और आन्तरिक निर्देशों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि इसका काल ईसवीं पूर्व पाँचवी शताब्दी कहा जा सकता है।

गीता की रचना का श्रेय व्यास को दिया जाता है, जो महाभारत के पौराणिक संकलनकर्ता हैं।

2.2 गीता की दार्शनिक दृष्टि-

भूमिका–शोधकर्ता ने अध्याय दो के प्रस्तुत स्तम्भ में गीता की विषय वस्तु का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस स्थल पर गीता के विभिन्न अध्यायों में श्लोकों की संख्या तथा अध्याय की विषय वस्तु का उल्लेख आदि समाहित है।

युद्ध भूमि में अर्जुन के मोहग्रस्त होने पर अर्जुन के मोह निवारण हेतु श्री कृष्ण द्वारा जीवन के दार्शनिक पक्ष के विशद् विवेचन एवं उपदेश के रूप में गीता का प्रणयन हुआ है।

---

1. सेकेण्ड बुक्स आफ द ईस्ट, खण्ड–8 भूमिका पृष्ठ 5–6
2. महाभारत आदि पर्व, 2/69/2 – 247

युद्ध में प्रवृत्त होने पर स्वजनों को मारने के सम्बन्ध में धर्म–अधर्म, करणीय–अकरणीय उचित–अनुचित के परस्पर प्रतिद्वन्दी भाव अर्जुन में अनिश्चय एवं किंकर्तव्यविमूढता का संचार करते हैं, वह अर्न्तद्वन्द की स्थिति से ग्रसित हो जाता है। जिसके निवारण हेतु गीता की विषय वस्तु के रूप में श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं।

वस्तुतः गीता की विषय वस्तु कर्तव्य शास्त्र है। श्री कृष्ण द्वारा गीता में मानवोचित व्यवहार का व्याख्यान एवं दिग्दर्शन कराया गया है। गीता का केन्द्रीय तत्व लोक व्यवहार है। गीता तात्विक विभ्रम के फलस्वरूप मोहजनित अर्न्तद्वन्द का शमन करते हुए अभीष्ट आचरण. हेतु दिशा बोध कराती है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कुल अठारह अध्याय हैं। गीता के सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या सात सौ है।

प्रथमोऽध्यायः

गीता के प्रथम अध्याय का नाम अर्जुन विषाद योग है। इस अध्याय में कुल 47 श्लोक है।

1 से 11 श्लोक तक दोनो सेनाओं के प्रधान–प्रधान शूरवीरों की गणना और सामर्थ्य का कथन है।

12 से 19 श्लोक में दोनों सेनाओं की शंख ध्वनि का कथन है।

20 से 27 श्लोकों तक अर्जुन द्वारा सेना निरीक्षण का प्रसंग है तथा

28 से 47 श्लोक तक मोह से ग्रसित हुए अर्जुन की कायरता, स्नेह और शोकपूर्ण मनोदशा का वर्णन है।

प्रथम अध्याय गीता प्रवचन की आधारभूमि है। सम्पूर्ण गीता की नींव यह अध्याय है इसमें कौरव और पाण्डवों की सेना का वर्णन है। इस अध्याय में अर्जुन की कर्तव्यच्युति के साथ–साथ उसका प्रज्ञावाद भी बताया गया है।

द्वितीयोऽध्यायः

गीता के द्वितीय अध्याय का नाम सांख्य योग है। इस अध्याय में कुल 72 श्लोक हैं अध्याय के 1 से 10 श्लोक तक अर्जुन की कायरता के विषय में श्री कृष्णार्जुन संवाद है तथा 11 से 30 श्लोक तक सांख्य योग की चर्चा श्री कृष्ण ने की है। श्लोक 31 से 38 तक कृष्ण ने क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता का निरुपण किया है तथा 39 से 53 श्लोक तक कर्मयोग के विषय का प्रस्तुतिकरण है तथा श्लोक 54 से 72 तक स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्षण और उसकी महिमा बताई गयी है।

इस अध्याय में आत्मा की अमरता और अखण्डता देह की नश्वरता, स्वधर्म की अबाधता ? और स्थित प्रज्ञावस्था का उल्लेख किया गया है। यह अध्याय वस्तुतः बुद्धि प्रधान हैं। सूत्र रुप में जीवन शास्त्र के सिद्धांतों को बताये जाने के कारण वस्तुतः यह अध्याय जीवन–शास्त्र भी है।

तृतीयोऽध्यायः

गीता के तीसरे अध्याय का नाम कर्मयोग है। इसमें कुल 43 श्लोक है। श्लोक 1 से 8 तक में ज्ञानयोग और कर्मयोग के अनुसार अनासक्त भाव से नियत कर्म करने की श्रेष्ठता का निरुपण है। श्लोक 9 से 16 तक यज्ञादि कर्मो की आवश्यकता का

उल्लेख है तथा 17 से 24 श्लोक तक ज्ञानवान और भगवान के लिए भी लोक संग्रहार्थ कर्मों की आवश्यकता बताई गयी है और 25 से 35 श्लोक तक अज्ञानी और ज्ञानवान के लक्षण तथा रागद्वेष से रहित होकर कर्म करने के लिए प्रेरणा का वर्णन है और अन्त में श्लोक 36 से 43 श्लोक तक काम के निरोध का विषय बताया गया है।

प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में श्रीकृष्ण कहते है 'कर्म करो' बाद में कहते हैं 'कर्म दम्भ रहित होकर' करो, "कर्म भावना सहित करो" और अन्त में कहा है "कर्म में निष्कामता रखो" अर्थात् कर्म की महत्ता के साथ ही साथ उत्तरोत्तर कर्म भावना तथा कर्म के प्रेरक तत्व में परिष्कार तथा निरपेक्ष भाव की ओर प्रयाण है।

चतुर्थोऽध्यायः

गीता के चौथे अध्याय का नाम ज्ञान कर्म सन्यास योग है इसमें कुल 42 श्लोक हैं। 1 से 18 श्लोक तक सगुण भगवान का प्रभाव और कर्मयोग का विषय है। श्लोक 19 से 23 तक योगी महात्मा पुरुषों के आचरण और उनकी महिमा बतायी गयी है तथा 24 से 32 श्लोक तक फल सहित पृथक–पृथक यज्ञों का कथन है और अन्त में श्लोक 33 से 42 तक ज्ञान की महिमा का उपदेश है।

प्रस्तुत अध्याय में श्रीकृष्ण ने अवतारवाद तथा अकर्म और विकर्म समझाया है। कर्मयोग, कर्म में विकर्मता, कर्म का विशुद्ध हेतु, कर्म का याज्ञिक स्वरुप कर्म की ब्रह्मार्पण विधि तथा उसके परिणाम से उत्पन्न होने वाली अकर्मण्यावस्था और उसकी प्राप्ति के लिए गुरु की शरण और अकर्मण्यावस्था का परिणाम स्पष्ट किया गया है।

पंचमोऽध्यायः

गीता के पाँचवे अध्याय का नाम कर्म सन्यास योग है। इस अध्याय में कुल 29 श्लोक हैं। श्लोक 1 से 6 तक सांख्ययोग और कर्मयोग का वर्णन है। जबकि श्लोक 7 से 12 तक सांख्ययोगी और कर्मयोगी के लक्षण और उनकी महिमा बताई गयी है। श्लोक 13 से 26 तक ज्ञान योग का विषय है और अन्त में 27 से 29 तक भक्ति सहित ध्यान योग का वर्णन किया गया है।

वस्तुतः इस अध्याय में सन्यास योग और कर्मयोगी की एकता और अभिन्नता तथा उत्कृष्ट सन्यास की अवस्था का वर्णन है।

षष्ठोऽध्यायः

श्रीमद् भगवद्गीता के छठवें अध्याय का नाम आत्म संयम योग है। इस अध्याय में कुल 47 श्लोक हैं। श्लोक 1 से 4 तक कर्मयोग का विषय और योगभ्रष्ट पुरुष के लक्षण बताये गये है। 5 से 10 श्लोक तक आत्म उद्धार के लिए प्रेरणा और भगवत् प्राप्त पुरुष के लक्षण बताये गये है तथा 11 से 32 श्लोक तक विस्तार से ध्यान योग का विषय कहा गया है एवं 33 से 36 मन के निग्रह का विषय है। अध्याय के अन्त में 37 से 47 श्लोक तक योगभ्रष्ट पुरुष की गति का विषय और ध्यानयोगी की महिमा बताई गयी है।

श्रीकृष्ण ने इस अध्याय में स्वपुरुषार्थ की महत्ता, चित्त की एकाग्रता जीवन की परिमितता, मन को वश में रखने का अभ्यास और पुनर्जन्म के सिद्धांत की बातें बतायी है।

सप्तमोऽध्यायः

सातवें अध्याय का नाम ज्ञान विज्ञान योग है। इस अध्याय में कुल श्लोक 30 हैं। 1 से 72 श्लोक तक विज्ञान सहित ज्ञान का विषय है श्लोक 8 से 12 तक सम्पूर्ण पदार्थो में कारण रूप से भगवान की व्यापकता का कथन है एवं 13 से 19 श्लोक तक आसुरी स्वभाव वालों की निन्दा और भगवद् भक्तों की प्रशंसा है एवं श्लोक 20 से 23 तक अन्य देवताओं की उपासना का विषय है और अन्त में श्लोक 24 से 30 तक भगवान के प्रभाव और स्वरुप को न जानने वालों की निन्दा और जानने वालों की महिमा बताई गयी है।

इस अध्याय से भक्ति का वर्णन शुरू होता है। इसमें भक्तों के प्रकार बताये गये हैं, भक्ति की महत्ता और उसकी आवश्यकता का कारण बताया गया है।

अथष्टमोऽध्यायः

आठवें अध्याय का नाम अक्षर ब्रह्मयोग है इस अध्याय में कुल 28 श्लोक है। 1 से 7 श्लोक तक ब्रह्म अध्यात्म और कर्मादि के विषय में अर्जुन के 7 प्रश्न और उनका उत्तर है तथा 8 से 22 श्लोक तक भक्ति योग का विषय है 23 से 28 श्लोक तक शुक्ल और कृष्ण मार्ग का विषय बताया गया है।

श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत अध्याय में प्रयाण–काल की मृत्यु की रमणीय कल्पना बतायी है और प्रभु स्मरण करते हुए मृत्यु आए इसका अभ्यास करने के लिए कहा है भक्ति सातत्य से करने के लिए कहा है।

यह अध्याय समर्पण योग बताता है। श्रीकृष्ण आश्वासन देते हैं कि थोड़ा ही

काम करो, मैं तुम्हारे पीछे खड़ा हूँ। यह अध्याय सामान्य मानव के लिए तथा तत्वज्ञानियों के लिए उत्तम है क्योंकि इसमें सबका मार्गदर्शन किया गया है। इसलिए इसका नाम राजयोग भी योग्य ही है। तथा 16 से श्लोक 19 तक सर्वात्म रूप से प्रभाव सहित भगवान के स्वरूप का वर्णन है एवं 20 से 25 तक सकाम और निष्काम उपासना का फल बताया है श्लोक 26 से 34 तक निष्काम भगवद् भक्ति महिमा है।

नवमोऽध्यायः

नवें अध्याय का नाम राजविद्या राज गुह्य योग है। प्रस्तुत अध्याय में कुल 34 श्लोक हैं। श्लोक 1 से 6 तक प्रभाव सहित ज्ञान का विषय है। श्लोक 7 से 10 तक जगत की उत्पत्तिका विषय एवं श्लोक 11 से 15 तक भगवान का तिरस्कार करने वाले आसुरी प्रकृति वालों की निन्दा और दैवी प्रकृति वाले भगवद्जनों के प्रकार बताये गये हैं तथा श्लोक 16 से 19 तक सर्वात्मरुप से प्रभाव सहित भगवान के स्वरुप का वर्णन है एवं 20 से 25 तक सकाम और निष्काम उपासना का फल बताया है एवं 26 से 34 तक निष्काम भगवद् भक्ति की महिमा बतायी गयी है।

दसमोऽध्यायः

दसवें अध्याय का नाम विभूतियोग है इसमें कुल 42 श्लोक हैं। 1 से 7 श्लोक तक भगवान की विभूति और योग शक्ति का वर्णन तथा उनके जानने का फल बताया गया है। श्लोक 8 से 11 तक फल और प्रभाव सहित भक्ति योग का कथन है। श्लोक 12 से 18 तक अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति तथा विभूति और योग शक्ति को कहने

के लिए प्रार्थना है और अन्त में श्लोक 19 से 42 तक भगवान द्वारा अपनी विभूतियों और योग शक्ति का कथन है।

यहाँ पर श्रीकृष्ण ने सर्वव्यापकता समझायी है। अणु–अणु में शक्ति व्याप्त है, चेतन सर्वत्र है परमात्मा वासुदेव चराचर में है यह जानने के लिए प्रारम्भ में भगवान की विभूति की तथा शनैः शनैः भगवद् व्याप्ति की अनुभूति के विकास के उद्यम का निरुपण है।

अथैकादशोऽध्यायः

इस अध्याय को विश्वरुप दर्शन योग की संज्ञा दी गयी है। इसमें कुल 55 श्लोक हैं। 9 से 4 श्लोक तक विश्वरुप के दर्शन हेतु अर्जुन की प्रार्थना एवं 5 से 8 श्लोक तक भगवान द्वारा अपने विश्वरुप का वर्णन तथा 9 से 14 श्लोक तक संजय द्वारा धृतराष्ट्र के प्रति विश्वरुप का वर्णन एवं 15 से 31 श्लोक तक अर्जुन द्वारा भगवान के विश्वरुप का देखा जाना और उनकी स्तुति करना बताया गया है। इसी के साथ 32 से 34 श्लोक तक भगवान द्वारा अपने प्रभाव का वर्णन और अर्जुन को युद्ध के लिए उत्साहित करना एवं 34 से 36 श्लोक तक भयभीत हुए अर्जुन द्वारा भगवान की स्तुति और चतुर्भुज रुप का दर्शन कराने के लिए प्रार्थना तथा 47 से 50 श्लोक तक भगवान द्वारा अपने विश्वरुप के दर्शन की महिमा का कथन तथा चतुर्भुज और सौम्यरुप को दिखाया गया है और अन्त में 51 से 55 श्लोक तक बिना अनन्य भक्ति के चतुर्भुज रूप के दर्शन की दुर्लभता का और फलसहित अनन्य भक्ति का कथन है।

इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने विश्वरुप दर्शन कराया है। श्रीकृष्ण अतिशय आनन्द में आकर एक उत्कृष्ट रहस्य प्रकट करते हैं कि यश तू प्राप्त कर कर्म मैं करुँगा, प्रभु के कार्य का तू निमित्त बन।

बारहवें अध्याय का नाम भक्ति योग है। इसमें कुल 20 श्लोक है। 1 से 12 श्लोक तक साकार और निराकार के उपासकों की उत्तमत्ता का निर्णय और भगवत प्राप्ति के उपाय का विषय तथा अन्त में 13 से 20 श्लोक तक भगवत् प्राप्त पुरुषों के लक्षण बताये गये हैं।

द्वादशोऽध्यायः

श्रीकृष्ण इस अध्याय में सगुण और निगुण भक्ति के सम्बन्ध में समझाते हैं। सगुण भक्ति करने वालों की यदि भूल हो तो उन्हें सौम्य सजा मिलती है निर्गुणों की भूल के लिए कठोर सजा है। सगुण और निगुण में भेद नहीं है ऐसा कहकर भक्तियोग का खण्ड समाप्त करते हैं कर्म और ज्ञान के बीच में दोनों को जोड़ने के लिए भक्ति मजबूती का काम करती है।

त्रयोदशोऽध्यायः

तेरहवें अध्याय का नाम क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ विभागयोग है। इसमें कुल 34 श्लोक हैं। श्लोक 1 से 18 तक ज्ञान सहित क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विषय एवं 19 से 34 श्लोक तक ज्ञान सहित प्रकृति पुरुष का विषय बताया गया है।

यहाँ पर श्रीकृष्ण क्षराक्षर का विचार समझाते हैं। इस अध्याय से ज्ञानकाण्ड का प्रारम्भ होता है देह और आत्मा का पृथक्करण समझाया गया है।

चतुर्दशोऽध्यायः

चौदहवाँ अध्याय को गुणत्रय विभागयोग कहते हैं। इसमें कुल 27 श्लोक है। 1 से 4 श्लोक तक ज्ञान की महिमा और प्रकृति पुरुष से जगत् की उत्पत्ति 5 से 18 श्लोक तक सत्, रज्, तम् तीनों गुणों का विषय वर्णन है। श्लोक 19 से 27 श्लोक तक भगवत्प्राप्ति का उपाय और गुणातीत पुरुष के लक्षण बताये गये हैं।

प्रस्तुत अध्याय में श्रीकृष्ण ने प्रकृति के सामर्थ्य का वर्णन किया है। सत्व, रज, और तम इन त्रिगुणों का वर्णन है और उन्हें दूर करने का उपाय तथा गुणातीत अवस्था का वर्णन इस अध्याय की विषय वस्तु है।

पंचदशोध्यायः

गीता के पन्द्रवें अध्याय का नाम पुरुषोत्तम योग है इसमें कुल 20 श्लोक है। 1 से 6 श्लोक तक संसार वृक्ष का कथन और भगवत् प्राप्ति के उपाय का उल्लेख है एवं 7 से 11 श्लोक तक जीवात्मा का विषय है तथा 12 से 15 श्लोक तक प्रभाव सहित परमेश्वर के स्वरुप का विषय एवं अन्त में 16 से 20 श्लोक तक क्षर–अक्षर एवं पुरुषोत्तम का विषय है।

यह अध्याय शास्त्र रूप है। इसमें सब कुछ सूत्रबद्ध रूप में कहा है। 'इति गुह्यतमं शास्त्रं' श्रीकृष्ण कहते हैं 'अपना ध्येय पुरुषोत्तम बनने का रख'। इस ध्येय पर पहुँचने के मार्ग में त्रिगुण आते हैं। उन्हें दूर करने का उपाय भी यहाँ बताया है। ज्ञान, कर्म और भक्ति द्वारा त्रिगुणों को दूर कर। तेजस्विता, ज्ञानमयता और व्यापकता का वर्णन यहाँ हैं। बाद में जीव और शिव की एकता समझायी है।

षोडशोऽध्यायः

सोलहवें अध्याय को दैवासुर सम्पद्वि भाग योग कहते हैं। इस अध्याय में कुल 24 श्लोक हैं। एक से पाँच श्लोक तक फल सहित दैवी तथा आसुरी सम्पदा का कथन तथा श्लोक 6 से 20 श्लोक तक आसुरी सम्पदा वालों के लक्षण और उनकी अधोगति का कथन है, तथा अन्त में 21 से 24 श्लोक तक शास्त्र विपरीत आचरणों को त्यागने और शास्त्रानुकूल आचरणों के लिए प्रेरणा दी गयी है।

इस अध्याय में दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति समझायी है। पुरुषोत्तम बनने की सीढ़ी दैवी सम्पत्ति जीवन में लाना और उसका प्रचार समाज में करना, आसुरी सम्पत्ति के सामने युद्ध करने के लिए शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक है, प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

सप्तदशोऽध्यायः

सत्रहवें अध्याय का नाम श्रद्धात्रय विभाग योग है। इसमें कुल 28 श्लोक हैं 1 से 6 श्लोक तक श्रद्धा और शास्त्र विपरीत घोर तप करने वालों का विषय एवं 7 से 22 श्लोक तक आहार, यज्ञ, तप और दान के पृथक–पृथक भेद तथा अन्त में 23 से 28 तक ॐ तत्सत् की व्याख्या का उपदेश है।

इस अध्याय के प्रारम्भ में श्रद्धा का वर्णन किया गया है तथा श्रद्धा के तीन प्रकार बताये हैं और सात्विक श्रद्धा के निर्माण के लिए सात्विक श्रद्धा की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। सात्विक श्रद्धा के निर्माण के लिए सात्विक आहार, यज्ञ, तप और दान की

आवश्यकता प्रतीत होती है, इसलिए उनका भी वर्णन किया गया है। इन सात्विक आहार, यज्ञ, तप और दान से जो सामर्थ्य प्राप्त होता है उसे ईश्वर को अर्पित करना चाहिए ऐसा कहा गया है और अन्त में 'ॐ तत्सम्' का गूढ़ अर्थ बताया गया है।

अथाष्टादशोऽध्यायः

गीता के अन्तिम अर्थात अठारहवें अध्याय को मोक्ष सन्यास योग कहते हैं। इसमें कुल 78 श्लोक है श्लोक 1 से 12 श्लोक तक त्याग का विषय एवं 13 से 18 श्लोक तक कर्मो के होने में सांख्य सिद्धांत का कथन तथा 19 से 40 श्लोक तक तीनों गुणों के अनुसार ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख के पृथक–पृथक भेद एवं 41 से 48 श्लोक तक फल सहित वर्ण धर्म का विषय है और 49 से 55 श्लोक तक ज्ञान निष्ठा का विषय बताया गया है। 56 से 66 श्लोक तक भक्ति सहित कर्मयोग का विषय और अन्त में 67 से 78 श्लोक तक श्री गीता जी का माहात्म्य बताया गया है।

प्रस्तुत अध्याय में श्रीकृष्ण सन्यास और त्याग के बारे में समझाते हैं। यज्ञ, दान, तप और कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। बाद में कर्म और कर्ता के प्रकार बताते हैं। तत्पश्चात श्रीकृष्ण ने व्यक्ति जीवन और समाज जीवन बताया है। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था का वर्णन किया है। चातुवर्ण्य की दिव्यता बतायी है। कर्मफल का त्याग समझाकर अन्त में कृष्ण अर्जुन से "अब तुझे जो योग्य लगे वह कर।" यह सब सुनने के बाद अर्जुन कहते हैं, मेरा मोह नष्ट हो गया, मैं सन्देह मुक्त हो गया हूँ। आप जैसा कहेंगे वैसा मैं करूँगा।" इसके बाद इस अध्याय में सिद्धांत कहा है कि "यत्र योगेश्वरः" जहाँ–जहाँ दैवी सामर्थ्य होगा और कर्मयोग होगा वहाँ सब कुछ मिलेगा। **यहाँ पर गीता पूरी होती है।**

2.3 गीता में समन्वयवाद-

भारतीय धार्मिक दाशर्निक साहित्य में गीता के महत्व का एक प्रमुख कारण उसकी समन्वय दृष्टि है। इस समन्वय द्रष्टि का ऐतिहासिक कारण और महत्व है। उपनिषद् युग के बाद की शताब्दियों पर नजर डालने से विदित होता है कि उस समय के भारत में तरह–तरह के वादों एवं सिद्धांतों की बाढ़ सी आ गयी थी।

आस्तिक विचारकों के आपसी मतभेद सदैव नास्तिक विचार और चिन्तन को प्रोत्साहन देते है यदि सत्य एक है और वह धर्मग्रन्थों में उपलब्ध है तो विभिन्न आस्तिक विचारकों और व्याख्याताओं में मतभेद क्यों होता है ? भगवद्गीता के रूप में आस्तिक हिन्दू धर्म और दर्शन ने यह प्रयत्न किया कि भिन्न–भिन्न मतों और मार्गो का एक सशक्त समन्वय प्रस्तुत करे। जबकि गीता का विशेष महत्व विभिन्न मोक्ष मार्गो के बीच समन्वय की स्थापना में है। वहाँ उसका तत्वदर्शन भी निर्गुण और सगुण ब्रह्म सांख्य के प्रकृतिवाद, प्राचीन उपनिषदों के ब्रह्मवाद और वाद की उपनिषदों के ईश्वरवाद का समन्वय प्रस्तुत करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

गीता का प्रमुख दार्शनिक सिद्धांत है कि जो असत् है उसका भाव नहीं हो सकता और जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं हो सकता।[1]

सत वही है जो त्रिकाल बाधित न हो अर्थात् जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में सदा सर्वदा नित्य एक रस और अपरिवर्तन शील रहे। यह लक्षण शुद्ध

---

1. **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 2 श्लोक 16)

आत्मतत्व या ब्रह्म का है और वही 'सत' है। गीता में आत्म तत्व के लिए नित्य, अविनाशी, अज, अव्यय, सर्वगत, अचल, सनातन, अव्यक्त, अचित्य और अविकार आदि पद प्रयुक्त हुए। शरीर नश्वर है. आत्मा नित्य है अतः वह शरीर के साथ नष्ट नहीं होता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने जीर्ण वस्त्रों को उतारकर दूसरे नये वस्त्रों को पहन लेता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीरों को छोड़कर नए शरीरों को धारण करता है।[1] गीता ब्रह्म के सगुण और निगुण दोनों रुपों को मानती है और यह भी मानती है कि ये दोनों रुप एक ही अभिन्न तत्व के हैं। ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। वह शुद्ध चैतन्य और अखण्ड आनन्द है। वह निर्विकल्प, निरुपाधि, विश्वातीत भी है। अन्तर्यामी रूप में वह सारी प्रकृति और समस्त प्राणियों में वास करता है। जिस प्रकार सब में मणि–गण पिरोये रहते हैं उसी प्रकार ब्रह्म में समस्त विश्व अनुस्यूत है।[2] विश्वात्मा होते हुए भी वह विश्व में सीमित नहीं है। वह विश्वातीत भी है यह उसका अनुत्तम पर भाव है।[3]

गीता परमेश्वर की दो प्रकृतियों का वर्णन करती है अपरा और परा। अपरा प्रकृति को क्षेत्र और क्षर पुरुष भी कहा गया है यह जड़ प्रकृति है जिसके भीतर समस्त भौतिक पदार्थ विद्यमान है। पराप्रकृति में चेतन जीव आते हैं इसकी अन्य संज्ञा क्षेत्रज्ञ और अक्षर

---

1. **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणति नरोऽपराणि।**
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णा न्यन्यानि संयाति नवानि देही।। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 2 श्लोक 22)
2. **मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणि गणा इव।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 7 श्लोक 7)
3. **अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्त मामबुद्धयः।**
   परं भावमजानन्तो ममाव्यय मनुत्तम्।। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 7 श्लोक 24)

पुरुष भी है।[1] चैतन्य रुप होने से जीव ईश्वर की उत्कृष्ट या पराप्रकृति या विभूति है। जीव कूटस्थ और अक्षर है जीव ईश्वर का सनातन अंश है।[2] क्षर पुरुष (जड़ प्रकृति) और पुरुष (जीव) इन दोनों के ऊपर उत्तम पुरुष या पुरुषोत्तम है।[3] यह पुरुषोत्तम ही परमतत्व है। यह जड़ प्रकृति और चेतन जीव दोनों का आत्मा है और दोनों में अन्तर्यामी रहकर दोनों का नियमन करता है, किन्तु यह दोनों के ऊपर (अतीत) भी है। यह विश्वातीत पुरुषोत्तम है। इस प्रकार गीता में निर्गुण ब्रह्म और सगुण ईश्वर का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है।

गीता में ज्ञान, कर्म, भक्ति का विलक्षण समन्वय हुआ है जो गीता के गौरव का प्रतीक है। ध्यान मार्ग साधना मार्ग है जो ज्ञान, कर्म और भक्ति तीनों में उपादेय है। ध्यान मानसी क्रिया होने से कर्म से सम्बद्ध है। उपासना भगवान का ध्यान या स्मृति होने से भक्ति से सम्बद्ध है और चित्त की एकाग्रता द्वारा वृत्तियों के समाधि में विलीन होने पर निर्विकल्प ज्ञान का प्रकाशित होना ध्यान का लक्ष्य है। गीता में योग शब्द व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और योग में ध्यान, ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय है। योग का शाब्दिक अर्थ है– मिलन अर्थात जीवात्मा का परमात्मा से मिलन इतना प्रगाढ़ मिलन कि दोनों दो न रहकर एक हो जावें। योग में दुःख से आत्यन्तिक वियोग और अखण्ड आनन्द से आत्यान्तिक संयोग होता है। योग यानी कर्मों में कुशलता[4] तथा योग धारण ध्यान समाधि है। (ध्यान योग) योग स्थित प्रज्ञ की द्वन्दातीत ब्राह्मी स्थिति है। (ज्ञान

1. **क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो क्षर उच्यते।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 7 श्लोक 4, 5)
2. **ममैवांशो जीव लोके जीव भूतः सनातनः** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 15 श्लोक 17)
3. **उत्तमः पुरुषस्त्व्न्यः परमात्मेत्युदाहतः।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 15 श्लोक 17,18)
4. **योग्य कर्मसु कौशलम्।**

योग) योग निष्काम कर्म है, कर्म अर्थात् कामना रहित कर्म है। (कर्म योग) योग भक्ति भगवत तत्व का सम्यक ज्ञान और भगवत प्रवेश है (भक्तियोग)[1] योगी द्वन्दातीत है। शीत–उष्ण, सुख–दुःख, मान–अपमान आदि में अविचल है ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा है समदृष्टि और समबुद्धि है।[2] जैसे वायु रहित स्थान में दीपक की लौ स्थिर रहती है वैसे ही योगी का चित्त स्थिर रहता है।[3] योग वह है जिसमें स्थित योगी तत्वज्ञान से विचलित नहीं होता एवं अतीन्द्रिय तथा शुद्ध ज्ञानगम्य अखण्ड आनन्द का अनुभव करता है जिसे पाकर उससे अधिक दूसरा कोई लाभ नहीं मानता, जिसमें स्थित होकर घोर दुःख से भी विचलित नहीं होता। जो दुःख के संयोग से सर्वथा रहित है वही योग है।[4]

योगी का लक्ष्य अपरोक्षानुभूति द्वारा आत्म साक्षात्कार है जो बिना योग के सम्भव नहीं। श्रीकृष्ण भक्तों को कृपा करके ज्ञानयोग प्रदान करते हैं जिससे वे उन्हें पा सकें।[5] बिना ज्ञान के योग शारीरिक और मानसिक व्यायाम मात्र है। इन्द्रियों को उनके 'आहार' से अर्थात् विषयोपभोग से बलात् कुछ देर के लिए रोकने से विषय कुछ समय के लिए निवृत्त हो जाते हैं, किन्तु फिर भी विषयोपभोग की लालसा मन में बनी रहती है, विषय सुख या भोग रस की स्मृति बनी रहती है, यह योग रस या भोगेच्छा आत्मज्ञान से ही निवृत्त हो सकती है।[6]

---

1. **गीता अ० 11, श्लोक 54, गीता अ० 18 श्लोक 55, गीता अ० 8 श्लोक 22**
2. **समत्वं योग उच्यते गीता अ० 6 श्लोक 7, 8**
3. **यथा दीपो निवातस्थो तेङ्ते सोपमास्मृता।**
   योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योग मात्मनः।। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 6 श्लोक 19)
4. **यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**
   यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 6 श्लोक 22)
5. **ददामि बुद्धियोगं तं येन माम पयान्ति ते।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 10 श्लोक 10)
6. **विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
   रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 2 श्लोक 59)

जिस प्रकार सुसमृद्ध अग्नि ईंधनों को जलाकर राख कर देती है[1] उसी प्रकार सुसमृद्ध ज्ञानाग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है संसार–सागर को ज्ञान योग से ही पार किया जा सकता है कर्म की समाप्ति ज्ञान में होती है।[2] ज्ञान से ही परमशान्ति या आनन्द मिलता है।[3] ज्ञान के समान पवित्र अन्य कुछ भी नहीं है।[4] भक्तों में भी ज्ञान सर्वश्रेष्ठ है।[5] गीता में श्रीकृष्ण ने ज्ञानी को अपनी आत्मा कहा है।[6] ज्ञान निष्ठा की परिपूर्णता के दो रुप है– एक तो सर्वत्र जगत् की समस्त चेतना–चेतन वस्तुओं में भगवत तत्व या आत्म तत्व को देखना और दूसरा रुप है आत्मा में समस्त विश्व को देखना।[7] दोनों रुप एक दूसरे के पूरक हैं।

गीता के कर्म योग का ज्ञान योग से कोई विरोध नहीं है अपितु गीता का निष्काम कर्म ज्ञानी द्वारा ही सम्पादित हो सकता है देहधारी प्राणी के लिए कर्मो का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं है।[8] प्रकृति के सत्व रजस्तमो गुण सब प्राणियों को विवश करके कर्म कराते हैं यह सारा लोक कर्म से बंधा है।[9] गीता में कर्म योग में प्रवृत्ति और निवृत्ति का अद्‌भुत

---

1. **ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात कुरुते तथा।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 4 श्लोक 37)
2. **अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 4 श्लोक 36)
   श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञान यज्ञः परंतप (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 4 श्लोक 33)
3. **ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम् चिरेणाधिगच्छति।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 4 श्लोक 39)
4. **नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिहविद्यते।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 4 श्लोक 38)
5. **चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतोर्जुन।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 7 श्लोक 16)
   तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 7 श्लोक 17)
6. **ज्ञानी त्वात्मैव मे मृतम्।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 7 श्लोक 18)
7. **यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 6 श्लोक 29, 30)
8. **नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 18 श्लोक 11)
9. **लोकोऽयं कर्मबन्धनः** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 3 श्लोक 5, 9)

समन्वय किया है। गीता कर्म का निषेध नहीं करती कर्म में फलासक्ति या कामना का निषेध करती है। वासना, कामना आसक्ति या फलाकांक्षा कर्म का विषदन्त है, जो कर्ता को बन्धन में बाँधता है। इस विषदन्त को निकाल देने पर कर्म में बाँधने की शक्ति नहीं रह जाती। गीता का कर्मयोग 'नैष्कर्म्य' (कर्म–निषेध) नहीं है अपितु 'निष्काम कर्म' (कामना रहित कर्म, कामना–निषेध) है। 'सन्यास' का अर्थ कर्म का त्याग नहीं है किन्तु कामना का त्याग है। त्याग का अर्थ कर्म का त्याग नहीं, अपितु कर्म फल का त्याग है।[1] गीता की सुप्रसिद्ध उक्ति है– तुम्हारा अधिकार केवल कर्म करने में है, कर्मफल में तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है, अतः तुम कर्मफल की कामना या फलासक्ति मत करो और न ही तुम्हारी प्रवृत्ति कर्म न करने में हो।[2]

यहाँ पर यह आपत्ति उठाई जाती है कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिना फल की इच्छा के कोई कर्म नहीं किया जाता।[3] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सही हो सकता है इसीलिए गीता का निष्काम कर्म ज्ञानी के लिए है। गीता का निष्काम कर्म ज्ञान भक्ति दोनों से अनुप्राणित है। प्रारम्भ में यदि कर्म के लिए कामना आवश्यक हो तो समस्त लौकिक कामनाओं का त्याग करके साधकों को केवल आध्यात्मिक उन्नति की कामना से कार्य करने चाहिए। भगवद् प्राप्ति के लिए भगवदर्पण बुद्धि से आध्यात्मिक उन्नति होती है और कर्मों द्वारा बंधन नहीं होता जैसे पद्म–पत्र जल में लिप्त नहीं होता है।[4]

1. **काम्यानां कर्मणान्यासं सन्यासं कवयोविदुः।**
   सर्वकर्म फलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 18 श्लोक 2)
2. **कर्मण्येवाधिकारस्ते फा फलेषु कदाचन।**
   मा कर्मफलहेतु र्भूर्मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि।। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 2 श्लोक 47)
3. **प्रयोजन मनुद्दिश्य न मन्देऽपि।**
4. **लिप्यते न स पापेन पत्र मिवाम्भसा।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 5 श्लोक 10)

यह सत्य है कि पूर्णतया निष्काम कर्म तो जीवन्मुक्त सिद्ध पुरुष के लिए सम्भव है, किन्तु सिद्ध पुरुषों का कोई स्वार्थ नहीं होता। उनके कार्य लोक संग्रह के लिए नहीं अपितु लोक कल्याण के लिए होते हैं। ब्रह्मज्ञान के बाद कोई ज्ञातव्य शेष नहीं रहता, कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता, ब्रह्मानन्द पीयूष ज्ञान के बाद कोई पाने योग्य वस्तु नहीं रहती। सिद्ध पुरुष के लिए कोई 'कर्तव्य' शेष नहीं है उसका कोई कार्य शेष नहीं है।[1] श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि उनके लिए कोई कार्य शेष नहीं है फिर भी उनके द्वारा कर्म सम्पादन हो रहा है अन्यथा समस्त लोकों का उच्छेद हो जाय।[2]

गीता के ज्ञान का सार भक्ति है। भक्ति गीता का हृदय है। गीता के उपदेश का प्रारम्भ प्रपत्ति या शरणागति से होता है जब अर्जुन धर्म के विषय में मोह ग्रस्त होकर श्रीकृष्ण से प्रार्थना करते हैं— मैं आपका शिष्य हूँ, आपका प्रपन्न हूँ अर्थात् आपकी शरण में आया हूँ आप अपने सदुपदेश से मेरा मोह दूर करें।[3]

गीता का भक्ति योग ज्ञान और कर्म से अनुप्राणित है। परमभक्ति, परमज्ञान और निष्काम कर्म वस्तुतः एक ही है क्योंकि तीनों का अर्थ है निर्विकल्प अपरोक्ष आत्मानुभूति है। भक्ति, ज्ञान और कर्म का भेद लौकिक व्यवहार में है किन्तु अपनी चरम अवस्था में ये सभी अपरोक्षानुभूति में परिणत हो जाते हैं इस प्रकार गीता ने इसका समन्वय करके साधना मार्ग को भीं सरल, सुबोध और सुगम बना दिया है।

---

1. **तस्य कार्य न विद्यते।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 3 श्लोक 17)
2. **वर्त एव च कर्मणि।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 3 श्लोक 24, 24)
3. **शिष्येस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।** (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 2 श्लोक 7)

इस प्रकार पराभक्ति और पराज्ञान में कोई भेद नहीं रहता। गीता ने बार–बार ज्ञान योग, कर्म योग और भक्ति योग में समन्वय स्थापित किया है।

इस प्रकार समस्त गीता पर विचार करने के बाद कर्मयोग का हाथ, ज्ञानी की आँख और भक्त का हृदय इन तीनों में समन्वय दिखाई देता है।

गीता के समन्वयवाद में केवल ज्ञानी, भक्त या ईश्वर को न मानने वाले केवल कर्मवादी नहीं होते बल्कि गीता के समन्वय में तो पूर्ण ज्ञानी, पूर्ण कर्म योगी और पूर्ण भक्त को स्थान है। पूर्ण ज्ञानी कर्म, भक्ति सहित होता है, पूर्ण कर्मयोगी ज्ञान, भक्ति युक्त होता है और पूर्ण भक्त ज्ञान, कर्म सहित होता है। किसी को भी तो इसमें तीनों गुणों का समन्वय होता हीहै ऐसा गीताकार का गीता में स्पष्ट उपदेश है।

दूसरा समन्वय गीता में प्रवृत्ति–निवृत्ति का समन्वय किया गया है इसी काल में श्रीकृष्ण आये और उन्होंने संतुलित जीवन के रहस्य और सिद्धांत समझाये। उनके पश्चात् हजार दो हजार वर्ष तक प्रवृत्ति–निवृत्ति के जीवन सिद्धांतों का समन्वय दिखाई देता है परन्तु बाद में वह संतुलन बिगड़ गया।

2.4 गीता दर्शन पर सम्पन्न शोध निष्कर्ष-

जहाँ तक गीता दर्शन पर अद्यतन सम्पन्न शोध कार्यों का प्रश्न है, उनमें अधिकांश शोध कार्य संस्कृत साहित्य तथा दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत किये गये हैं तथा गीता दर्शन का शैक्षिक दृष्टि से अध्ययन बहुत ही अल्पमात्रा में हो सका है तथापि चटर्जी (1950), के. दास (1975), जे.बी. पाण्डे (1985), एच. केशरी (1986) तथा डॉ.

सभाजीत चौबे (1987) एवं हरिद्वार राम (1999) आदि के द्वारा सम्पन्न शोध कार्य एवं तद्जनित शोध निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं।

गीता के ऊपर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। आचार्यों की परम्परा में शंकर, रामानुज, मध्व, बल्लभ, निंबार्क आदि ने गीता पर भाष्य लिखे हैं इसके अतिरिक्त ज्ञानेश्वर, आनन्द गिरि, रमण महर्षि तुकाराम, एकनाथ आदि का नाम भी उल्लेखनीय है।

समकालीन परम्परा में बाल गंगाधर तिलक, एनी बेसेन्ट, श्री अरविन्द, त्रयंबक, महात्मा गांधी, डा. राधाकृष्णन, विनोबा भावे, सातवलेकर, कवीश्वर, श्री पांडुरंग शास्त्री आदि अनेक विचारकों की विवेचननाएँ गीता को हृदयंगम करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं सारगर्भित है।

श्रीमद्भगवद् गीता के प्रति प्राचीन एवं अर्वाचीन टीकाकारों का दृष्टिकोण अधोलिखित हैं–

गीता के प्राचीन टीकाकार

1. शंकराचार्य (788–820 ईसवी) का ज्ञानयोग

भारतीय साहित्य में मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं–ज्ञान, कर्म और उपासना। ज्ञान का सम्बन्ध मस्तिष्क से है, कर्म का सम्बन्ध इन्द्रियों से है उपासना का सम्बन्ध हृदय से है। इसी को अंग्रेजी में Knowing, Willing, Feeling कहते हैं। ज्ञान के मार्ग को ज्ञान योग, कर्म के मार्ग को कर्म योग तथा उपासना के मार्ग को भक्ति योग कहा जाता है।

शंकराचार्य अद्वैतवादी थे उनका कहना था कि जगत् मिथ्या है, ब्रह्म ही सत् है आत्मा भी मूलतः ब्रह्म है यह जो नानात्व दिखाई देता है उसका कारण अज्ञान है। अगर यह बात ठीक है कि अज्ञान ही सब रोगों की जड़ है तो हमारे सब रोगों को काटने का उपाय भी 'ज्ञान के सिवाय दूसरा हो नहीं सकता। यही कारण है कि शंकराचार्य के कथनानुसार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञान–योग' है। कर्म तो करना ही पड़ता है, परन्तु कर्म मुख्य नहीं, ज्ञान मुख्य है, कर्म किया जाता है, कर्म का त्याग करने के लिए, सन्यास के लिए, कर्मो से निवृत्ति के लिए, शंकराचार्य अपने मत की पुष्टि में हैं कि गीता के अध्याय 4, श्लोक 37 में लिखा है 'ज्ञानग्नि, सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन'[1]– हे अर्जुन! ज्ञान की अग्नि में सब कर्म भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार गीता के अध्याय 4 श्लोक 33 में लिखा है–सर्व कर्मालिखं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' सब कर्मो का अन्त ज्ञान में होता है[2], इससे सिद्ध होता है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय 'कर्मयोग' नहीं, 'कर्म सन्यास' है। उपासना के सम्बन्ध में शंकराचार्य का कहना है कि भक्ति तो व्यक्ति प्रति होती है ब्रह्म कोई व्यक्ति विशेष नहीं है, इसलिए उसकी उपासना नहीं हो सकती, उसके प्रति प्रेम या श्रद्धा भी नहीं हो सकती। दो शब्दों में शंकराचार्य के अनुसार गीता का प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञान योग' है।

---

1. **यथै धांसि ससमिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।**
   ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्म सात्कुरुते तथा।। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 4 श्लोक 37)
2. **श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञान यज्ञः परन्तप।**
   सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते।। (श्रीमद् भगवद्गीता अ० 4 श्लोक 33)

2. रामानुजाचार्य (जन्म 1073 या 11वीं शताब्दी) का भक्ति योग–

शंकराचार्य अद्वैतवादी थे, तो रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतवादी थे। विशिष्टाद्वैत का क्या अर्थ है ? इनका कहना था कि शंकराचार्य का अद्वैतवाद असत्य है। ईश्वर, जीव तथा जगत् ये तीनों एक तत्व नहीं भिन्न–भिन्न तीन तत्व है। परन्तु कैसे तत्व ? जीव (चित्त) तथा जगत् (अचित्) दोनों एक ही ईश्वर के सूक्ष्म शरीर है। चित्त–उचित विशिष्ट ईश्वर तो एक ही है, ईश्वर के इस सूक्ष्म चित्त+अचित से स्थूल चित्त (अनेक जीव) तथा स्थूल–अचित (यह स्थूल जगत्) की उत्पत्ति हुई है। क्योंकि इस सिद्धांत में जीव तथा जगत् को ईश्वर का ही शरीर माना जाता है। इसलिए इस सिद्धांत को भी 'अद्वैत' ही कहते है। परन्तु क्योंकि इस सिद्धांत में ईश्वर के शरीर को जीव तथा जगत् के विशिष्ट अर्थात् सहित भाग जाता है इसलिए इसे 'विशिष्टद्वैत' कहते है। जैसे शरीर तथा आत्मा एक ही भासते हैं। परन्तु एक–दूसरे से पृथक हैं, एक दूसरे से विशिष्ट हैं वैसे जगत् परमात्मा एक ही भासते हैं परन्तु एक दूसरे से पृथक हैं, एक दूसरे से विशिष्ट हैं। ईश्वर जीव तथा जगत् इन तीनों के विषय में भी रामानुजाचार्य का मत है कि ये तीनों एक होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं, भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के साथ इस प्रकार बंधे हुए हैं, एक दूसरे से विशिष्ट हैं, जैसे शरीर तथा आत्मा की अलग–अलग अनुभूति होते हुए भी इनकी एक ही अनुभूति होती है ऐसा रामानुजाचार्य कहते हैं जीव ईश्वर से विशिष्ट होते हुए भी ईश्वर से पृथक है, जीव अवास्तविक नहीं है। भुक्ति की दशा में वह लुप्त नहीं होता। तो फिर ईश्वर जीव को संभालता है, और भीतर से ही उसका नियमन करता है। यही कारण है कि ईश्वर की जब जीव पर कृपा होती है तब उसका उद्धार होता है। इस दृष्टि से रामानुजाचार्य का कहना है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भक्ति है1,

कर्म नहीं। ईश्वर की जीव पर कृपा जीव के भक्ति भाव से ही हो सकती है, कर्म तो उसमें सहायक मात्र है। तभी कहा है कि – ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेशोऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन सर्वभूतानि यन्त्रारुढ़ानिमायया[1]– ईश्वर सब प्राणियों के मन में बैठा हुआ उनका संचालन कर रहा है। तभी कहा है– 'मद्याजी मां नमस्करु' मेरी ही पूजा कर, मुझे नमस्कार कर, तभी कहा है – 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' – सब धर्मो को छोड़कर मेरी शरण लें। इस प्रकार शंकराचार्य के 'अद्वैत' के स्थान में विशिष्टाद्वैत तथा सन्यास के स्थान में 'भक्ति' को स्थापित करके रामानुजाचार्य ने 'भक्ति मार्ग' का प्रतिपादन किया और गीता का भी मुख्य विषय 'भक्ति योग' ही घोषित किया। रामानुजाचार्य ब्रह्म को नवीन वेदान्तियों की तरह निर्गुण नहीं मानते, सगुण मानते हैं, वह भक्तों का कल्याण करता है उनका उपकार करता है।

श्री मध्वाचार्य (1199–1276 ई०) रामानुजाचार्य के बाद हुए उन्होंने गीता भाष्य तथा गीता तात्पर्य दो ग्रन्थ लिखे। 'विशिष्टाद्वैत' के विषय में उनका कहना था कि ईश्वर और जीव को कुछ अंशों में एक और कुछ अंशों में परस्पर भिन्न मानना परस्पर विरुद्ध है, इसलिए दोनों को परस्पर भिन्न मानना ही उचित है। उन्होंने एक तीसरे सिद्धांत का प्रतिपादन किया जिसे 'द्वैत सम्प्रदाय' कहा जाता है। जहाँ द्वैत है वहाँ भक्ति है क्योंकि दो में ही उपासना का स्थान हो सकता है। इसलिए मध्वाचार्य ने भी गीता का मुख्य विषय 'भक्ति योग' ही माना है। उनका कहना है कि गीता में 'कर्म' का प्रतिपादन तो अवश्य है परन्तु वह केवल भक्ति का साधन है, स्वयं साध्य नहीं है।

1. श्रीमद् भगवद्गीता अ० 18 श्लोक 61

गीता के अर्वाचीन टीकाकार

(क) **लोकमान्य तिलक (1856–1920 ई.) का कर्मयोग**–गीता के अर्वाचीन टीकाकारों में लोकमान्य तिलक का नाम प्रमुख है। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने यह घोषित किया कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञान' नहीं है, भक्ति नहीं है अपितु 'कर्म' है। लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि किसी ग्रन्थ के प्रति पाद्य विषय को देखने के लिए उसका आदि देखना चाहिए, अन्त देखना चाहिए, यह देखना चाहिए कि पुस्तक के बीच में बार–बार किस बात को दोहराया गया है। जो बात शुरू में कही गयी है जो बात बीच–बीच में दोहराई गई है, जो अन्त में कही गई हो वही उस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय हो सकता है इसी को मीमांसा कहते हैं। 'उपक्रमोपासंहारौ श्रम्यासोऽपूर्वता फलम्' उपक्रम में, उपसंहार में अभ्यास अर्थात् बार–बार दोहराने में जो बात कही जाय लिंग तात्पर्य निर्णय–ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णय करने में उसी बात को प्रधानता दी जानी चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर प्रश्न होता है कि गीता का प्रारम्भ कैसे हुआ, बीच में क्या बात कही गयी, अन्त कैसे हुआ। कुरूक्षेत्र के मैदान में अपने बुजुर्गों, गुरूओं, संबंधियों को खड़े देखकर अर्जुन घबड़ा उठा, गांडीव उसके हाथ से गिर गया, वह सन्यास लेने के लिए तैयार हो गया, कर्म छोड़ बैठा। जंब गीता का उपदेश हो चुका तब उसने श्रीकृष्ण से कहा। ''नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध त्वत्प्रसादान्मयाच्युत्। स्थितोडस्मिगतसंदेह; करिष्ये वचनं तव'' हे अच्युत मेरा मोह नष्ट हो गया, आप जैसा कहेंगे, मैं वैसा करूंगा। अन्त में अर्जुन ने गांडीव धनुष पकड़ा, गुरूओं सगे–संबंधियों को मौत के घाट उतार दिया। जो

अर्जुन कर्म छोड़ चुका था वह कर्म में प्रवृत्त हुआ। तब यह कैसे कहा जाये कि गीता में, 'ज्ञान योग' है या 'भक्ति योग' है ? लोकमान्य तिलक का कहना है कि गीता का आदि मध्य अन्त इस बात के साक्षी हैं कि गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग है।

(ख) **श्री अरविन्द घोष (1872—1950) का 'दिव्यकर्म'**—श्री अरविन्द ने "Essay on the Gita" पर अपने मत का प्रतिपादन करते हुये लिखा है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय 'कर्मयोग' नहीं है।

वे कहते हैं कि गीता राजनीति शास्त्र का ग्रन्थ नहीं, बल्कि आध्यात्मिक जीवन का ग्रन्थ है। गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह 'मानव कर्म' (Human Action) नहीं अपितु 'दिव्य—कर्म' (Divine Action) है।[1] दिव्य कर्म शब्द गीता के चतुर्थ अध्याय के नौवें श्लोक में आया है।

समन्वयात्मक दृष्टि :—अद्वैतवादी गीता में ज्ञानयोग की चर्चा करते हैं, द्वैतवादी भक्तियोग की, वर्तमान युग के लोग कर्मयोग की तथा श्री अरविन्द की मान्यता दिव्य कर्म योग की है। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय दृष्टिकोण कभी एकांगी नहीं रहा। यहाँ चिन्तन प्रणाली सदा समन्वयात्मक रही है। ये भिन्न—भिन्न दृष्टिकोण एक दूसरे के पूरक हैं और इसी दृष्टि से गीता के प्रतिपाद्य विषय को देखना चाहिए। गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, दिव्य कर्मयोग ये चारों हैं इनमें से सिर्फ एक ही नहीं। इस दृष्टि से गीता का प्रत्येक स्थल सुगम, सरल तथा बुद्धिमय हो जाता है।

1. **जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।**
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। (श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय 4 श्लोक 9)

तृतीय अध्याय : अनुसंधान विधि

अध्याय - 3

अनुसंधान विधि

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उद्देश्य गीता जैसे प्राचीन एवं ऐतिहासिक ग्रन्थ में प्रकाशन्तर से वर्णित शैक्षिक निहितार्थो का वर्तमान परिवेश में उपयोगिता का प्रतिपादन है। अतः शोध प्रबन्ध में अनुसंधान की निम्नलिखित विधियों–

1. ऐतिहासिक अनुसंधान एवं
2. वर्णनात्मक अनुसंधान का प्रयोग किया गया है।

ऐतिहासिक अनुसंधान-

इसका सम्बन्ध भूतकाल से है। भूतकाल की घटनाओं, परिस्थितियों का तथ्यात्मक विश्लेषण ऐतिहासिक अनुसंधान का प्रमुख उद्देश्य है ताकि भूत को उसके मौलिक स्वरुप में उद्घाटित किया जा सके।

मानव की उपलब्धि का पूर्ण, सही और अर्थपूर्ण अभिलेख इतिहास कहलाता है। यह केवल कुछ घटनाओं की सूची मात्र नहीं होता अपितु एक विशेष समय एवं स्थान पर घटित मानव जीवन से सम्बंधित घटनाओं, लोकव्यवहार का एक सत्य सुनियोजित एवं परीक्षित अभिलेख होता है। इतिहास का प्रयोग भूतकाल की पृष्ठभूमि में वर्तमान को समझने एवं भविष्य के लिए पूर्वकथन करने के लिए किया जाता है। जिससे भविष्य के सम्बन्ध में उचित निर्णय करने में सरलता हो सके।

जान डब्लू बेस्ट के अनुसार –"ऐतिहासिक अनुसंधान का सम्बन्ध ऐतिहासिक समस्याओं के वैज्ञानिक विश्लेषण से है इसके विभिन्न पद भूत के सम्बन्ध में एक नई सूझ पैदा करते हैं जिसका सम्बन्ध वर्तमान और भविष्य से होता है।"[1]

ऐतिहासिक अनुसंधान के मूल उद्देश्य-

मूलरुप में ऐतिहासिक अनुसंधान के अधोलिखित उद्देश्य हो सकते हैं–

1. भूत के आधार पर वर्तमान को समझाना एवं भविष्य के लिए सतर्क होना।
2. शिक्षा मनोविज्ञान एवं अन्य सामाजिक विज्ञानों में चिंतन की नई दिशा देने एवं नीति–निर्धारण में सहायता करना है।
3. वैज्ञानिकों की भूतकालीन तथ्यों के प्रति जिज्ञासा की तृप्ति एवं भूत, वर्तमान तथा भविष्य का सम्बन्ध स्थापित करना है।
4. ऐतिहासिक अनुसंधान इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि किन परिस्थितयों में किन कारणों से व्यक्ति अथवा व्यक्तियों ने एक विशेष प्रकार का व्यवहार किया है तथा यह व्यवहार व्यक्ति तथा समाज पर पड़ने वाले प्रभाव पर प्रकाश डालता है।
5. ऐतिहासिक अनुसंधान इस तथ्य का भी विश्लेषण करता है कि आज जो सिद्धांत एवं क्रियाएँ व्यवहार में है उनका उद्भव एवं विकास किन परिस्थितियों में हुआ है।

ऐतिहासिक अनुसंधान के प्रकरण-

ऐतिहासिक अनुसंधान की विषय वस्तु चुनने में अद्योलिखित दो तथ्यों में ध्यान देना आवश्यक है–

---

1. John W. Best Research in Education Page–86

1. ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करना जिसका पता न लगा हो तथा
2. पुराने अनुसंधान का संशोधन अच्छे प्रकरण प्राप्त करने के उपाय।
3. विषय–विशेष का गहन अध्ययन।
4. संदेहात्मक बुद्धि से साहित्य सर्वेक्षण।
5. अन्वेषणात्मक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण।

ऐतिहासिक अनुसंधान के विभिन्न पद-

ऐतिहासिक अनुसंधान के अधोलिखित पद होते हैं–

(1) आँकड़ों का संग्रह (2) आँकड़ों का विश्लेषण (3) उपर्युक्त के आधार पर तथ्यों का विश्लेषण एवं निष्कर्ष एवं डेविड फाक्स के अनुसार ऐतिहासिक अनुसंधान के अधोलिखित पद हैं–

1. यह निश्चय करना कि समस्या का समाधान ऐतिहासिक विधि से होगा।
2. आवश्यक आकड़ों की प्रकृति का निश्चय करना।
3. पर्याप्त आकड़ों की प्राप्ति हेतु निश्चयन।
4. निम्नलिखित माध्यमों से आकड़े प्राप्त करके प्रारम्भ करना।

1. प्रतिवेदन लिखना प्रारम्भ करना।
2. आकड़ों का परीक्षण करते जाना।
3. अनुसंधान प्रतिवेदन का वर्णनात्मक भाग पूर्ण करना।
4. अनुसंधान प्रतिवेदन का विश्लेषणात्मक भाग पूर्ण करना।

5. आंकड़ों का वर्तमान के प्रयोग और भविष्य के लिये परिकल्पना का निर्माण करना।

ऐतिहासिक अनुसंधान विधि में उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर किसी शोध प्रबन्ध का प्रणयन किया जाता है।

वर्णनात्मक अनुसंधान-

वर्णनात्मक अनुसंधान का शैक्षिक तथा मनोवैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्व है–''वर्णनात्मक अनुसंधान, क्या है ? का वर्णन एवं विश्लेषण करता है। परिस्थितियाँ अथवा सम्बन्ध जो वास्तव में विद्यमान है, अभ्यास जो प्रवृत्त है, विश्वास विचारधारा अथवा अभिवृत्तियों जो पायी जा रही है, प्रक्रियाऐं जो चल रही हैं अनुभव जो प्राप्त किये जा रहे हैं अथवा नई दिशाऐं जो विकसित हो रही हैं उन्हीं से इसका सम्बन्ध है।''[1]

वर्णनात्मक तथा ऐतिहासिक अनुसंधान में अन्तर समय की दृष्टि से कर सकते हैं ऐतिहासिक अनुसंधान जहाँ भूतकाल से सम्बन्धित है वहीं वर्णनात्मक अनुसंधान वर्तमान से सम्बन्धित होता है।

वर्णनात्मक अनुसंधान की आवश्यकता-

वास्तव में किसी समस्या के समाधान में आगे बढ़ने के पूर्ण व्यक्ति का उस वस्तु से परिचित होना आवश्यक है जिस क्षेत्र में वह कार्य कर रहा है। अतः शिक्षात्मक अनुसंधान में भी प्रारम्भ में किसी घटना, विवरण अथवा विषय के सम्बन्ध को स्पष्ट करने

---

1. John W. Best Research in Education Page–102

पर विशेष ध्यान था। किसी विषय के शिक्षण सम्बन्धी समस्या के समाधान से पूर्ण अनुसंधानकर्त्ता के मन में यह प्रश्न उठता है कि वर्तमान स्थिति क्या है ? वर्तमान दशाओं, क्रियाओं, अभिव्यक्तियों तथा स्थिति के विषय में ज्ञान प्राप्त करना मूल उद्देश्य होता है। किन्तु वर्णनात्मक अनुसंधान का सम्बन्ध केवल तथ्यों को एकत्र करने मात्र से नहीं है अपितु एक कुशल अनुसंधान कर्ता का लक्ष्य तो विभिन्न चरों में सम्बन्ध ढूढ़ना एवं भविष्यवाणी करना होता है।

वर्णनात्मक अनुसंधान में किसी विशेष समय की स्थिति अथवा घटना का वर्णन होता है। अतः इसके आधार पर सर्वकालिक भविष्य कथन असंगत है। हाँ तात्कालिक समस्याओं के विषय में अवश्य विचार कर सकते हैं। भौतिक परिस्थितियों से सम्वधित आँकडे स्थिर प्रकृति के होते हैं किन्तु सामाजिक परिस्थितियाँ नित्य परिवर्तन-शील है अर्थात् जो कल था वह आज नहीं है जो आज है वह कल नहीं रहेगा। अतः भविष्य कथन में विशेष सावधानी अपेक्षित है। प्रस्तुत शोध में गीता का रचनाकाल, उसकी ऐतिहासिकता तथा गीता दर्शन के सम्बंध में विभिन्न टीका कारों विद्वानो के मतों का समाहारात्मक रूप में उल्लेख वर्तमान शोध की विधि को ऐतिहासिक तथा वर्णनात्मक श्रेणी प्रदान करता है।

चतुर्थ अध्याय : गीता का दर्शन और आधारभूत सिद्धान्त

4.1. गीता का दार्शनिक अभिमत

4.2. जीव की अनश्वरता और पुर्नजन्म

4.3. गीता में प्रतिपादित धर्म का स्वरूप

4.4. कर्मवाद

4.5. मोक्ष और उसके साधन

अध्याय - 4

गीता का दर्शन और आधारभूत सिद्धान्त

भूमिका—प्रस्तुत अध्याय प्रधानतः गीता के दार्शनिक पक्ष से सम्बन्धित है।

अध्याय के प्रारम्भ में गीता के दार्शनिक अभिमत प्रमुखतः अधोलिखित हैं—

1. आत्मा की अमरता
2. स्थित प्रज्ञावस्था
3. विभूतियोग
4. गीता में त्रिगुण (सत, रज, तम)
5. गीता में क्षर—अक्षर
6. तप के तीन प्रकार
7. दैवी एवं आसुरी सम्पदा
8. वर्णव्यवस्था
9. गीता में निष्काम कर्मयोग

उपरोक्त विषय पर शोधकर्ता ने प्रकाश डाला है इसी क्रम में जीव की अनश्वरता और पुनर्जन्म तथा गीता में प्रतिपादित धर्म का स्वरूप, कर्मवाद एवं मोक्ष और उनके साधन प्रस्तुत अध्याय के प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं।

गीता का दर्शन और आधारभूत सिद्धान्त-

प्राचीन आध्यात्मिक साहित्य में 'प्रस्थान त्रयी' शब्द प्रसिद्ध है। 'प्रस्थान त्रयी' इस देश के सर्वोच्च आध्यात्मिक साहित्य का नाम है। 'प्रस्थान' का अर्थ है—जीवन की

यात्रा में प्रस्थान, किसी उद्देश्य के लिए चल पड़ना, निरूद्देश्य न भटकते रहना। इस प्रकार जीवन की दिशा का निर्धारण करने वाले संस्कृत साहित्य में तीन ग्रन्थ है–उपनिषद, गीता तथा वेदान्त दर्शन। ये तीनों संस्कृत के अमर साहित्य है इन तीनों का लक्ष्य मानव जीवन को सोद्देश्य बना देना है।

'गीता' महाभारत के भीष्म–पर्व का एक भाग है भीष्म पर्व में 25 से 42 तक जो 18 अध्याय है वे गीता कहलाते है। महाभारत के रचयिता वेद व्यास है इसलिए गीता के रचयिता भी वेद व्यास ही हैं।

'गीता' उपनिषदों का सार है गीता ग्रन्थ के विषय में लिखा है–

"सर्वोपानिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः।

पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीता मृतं महत।।"

सम्पूर्ण उपनिषदें गौ के समान है गोपाल नन्दन श्री कृष्ण दुहने वाले है अर्जुन बछड़ा है तथा महान गीतामृत ही उस गौ का दुग्घ है और शुद्ध बुद्धि वाला श्रेष्ठ मनुष्य ही उसका भोक्ता है।[1]

उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि गीता ज्ञानामृत अर्जुन के लिए ही नहीं है इसकी धारा अमरत्व के हर एक पिपासु के लिए बह रही है। जो भी इस अमृत का पान करे वही अर्जुन है।

श्रीकृष्ण तथा अर्जुन का संवाद मानव जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के मानस में हो रहे अन्तर्द्वन्द का प्रतीक है।

मनुष्य के मानस में क्या अन्तर्द्वन्द चला करता है ? अर्जुन के मन में जो संघर्ष

1. **गीता माहत्म्य श्लोक सं. 6, गीता प्रेस, गोरखपुर**

पैदा हुआ वही तो हर व्यक्ति के मानव में चलता है। एक तरफ धर्म है, कर्तव्यनिष्ठा है, दूसरी तरफ अधर्म है, मोह माया का जाल है। धर्म–अधर्म, मोह, कर्तव्य की रस्साकशी हमारे भीतर से पैदा होती है जैसे एक ही वंश से युधिष्ठिर तथा दुर्योधन पैदा हुये अधर्म के मोह की शक्ति प्रबल है। दल बल सहित वह आँधी की तरह उमड़ता है ठीक ऐसे जैसे कुरूक्षेत्र के मैदान में कौरवों की सेना उमड़ पडी। भीतरी संघर्ष के ऐसे समय में मनुष्य की आत्मा निर्बल पड़ जाती है। अर्जुन की तरह उसमे हाथ से धनुष गिर पड़ता है वह हताश होकर अपने को ही धोखा देने के लिए अपनी निर्बलता को माया मोह की फसावट को उच्च्य आदर्शों का बाना पहनाने लगता है। जब व्यक्ति के अन्दर अधर्म प्रबल होने लगता है, संघर्ष में वह पराजित होने लगता है, मोह के रज्जु–पाश में कसे जाते है तब व्यक्ति अपनी कमजोरी को छिपाने के लिए ऐसी युक्तियाँ ढूंढ निकालते है जिनके जोर पर व्यक्ति संघर्ष की स्थिति से निकल भागे। अर्जुन ऐसा होकर रहा है। वह मोह के कारण उत्पन्न होने वाले संघर्ष से बचना चाहता है और उससे बचने के लिए बड़ी–बड़ी ऊँची–ऊँची बाते करने लगता है।

अर्जुन ने युद्ध में सैकडों शत्रुओं को मारा था, अनेकों युद्ध लड़ा था और विजयी हुआ था। आज वह क्यों युद्ध के ही विरूद्ध एक के बाद दूसरी युक्ति देने लगा है। वह अर्जुन जो सदाँ युद्ध के तैयार बैठा रहता था क्यों कुरूक्षेत्र के मैदान में खड़ा होकर उन सब युक्तियों को देने लगा जो युद्ध विरोधी लोग सदाँ से देते आये और आज भी देते है। अर्जुन को युद्ध विरोधी युक्तियों को पढकर ऐसा जान पड़ता है कि युद्ध के विरोध में आवाज उठाने वाला संसार का वह पहला व्यक्ति था।

परन्तु अर्जुन युद्ध के विरूद्ध बोल क्यों रहा था ? वह एकदम अशोक तो बन नहीं गया था असल बात यह थी कि युद्ध तो उसकी प्रकृति में बसा हुआ था उसके स्वभाव का अंग था परन्तु जब उसने अपनी आँखों के सामने अपने सगे संबधियों को देखा यह देखा कि इन्ही रिश्तेदारों को मारकर इनके खून से सने भोगों को भोगने के लिए यह युद्ध लड़ा जा रहा है तब उसके हृदय में मोह उत्पन्न हो गया।

आचार्य विनोवा ने इस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि अर्जुन की स्थिति ठीक ऐसी थी जैसी स्थिति उस न्यायाधीश की होती है जो सजा देता है परन्तु दुर्भाग्य से कभी उसका अपना लड़का खून का अपराध कर बैठा तव वह बुद्धिवाद बघारने लगा कहने लगा कि फाँसी की सजा बड़ी अमानुषी है इससे अपराधी का सुधार नहीं होता यह सजा मानवता पर कलंक है। परन्तु यह प्रज्ञावाद उसे तभी याद आता है जब उसका अपना लड़का अपराधी बनकर उसके सामने खड़ा हो तब उस पर मोह का पर्दा पड़ जाता है।

परन्तु जीवन के मार्ग में उजाला देखने के लिए अर्जुन के विषाद की स्थिति की भाँति अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति का उत्पन्न होना आवश्यक है। जब जीवन यात्रा में प्रायः ऐसे संकल्प–विकल्प के क्षण आते हैं जब व्यक्ति को मार्ग के चयन की बाध्यता होती है एक कर्तव्य पालन का कंटकापूर्ण मार्ग है तो दूसरी ओर अपने पराये के मोह बन्धन हैं। वस्तुतः जीवन सपाट मार्ग न होकर टेढ़ी–मेढ़ी पगडंडियों से होकर जाता है, जिनमें कर्तव्य बोध की सतत् सचेष्टता और उसके अनुरूप ही आचरण अभीष्ट गन्तव्य तक पहुँचा सकता है तथा वैयक्तिक मोह का त्याग कर कर्तव्य बोध से अभिभूत व्यक्ति ही

इतिहास पुरुष बनते हैं तथा उनका आचरण ही सामान्यजन के व्यवहार के लिए प्रकाश स्तम्भ बनता है। मोह–पाश में आबद्ध व्यक्ति के आचरण में वह गुरुता नहीं होती जो उसे सामान्य से हटकर विशिष्ट की कोटि प्रदान करे तथा वह समाज के सामान्यजन के लिए अनुकरणीय बन सके। क्योंकि उसका आचरण स्वयं सामान्यजन जैसा ही है।

अर्जुन उन सब नवयुवकों का प्रतिनिधि है जो जीवन के अंधकार मय मार्ग में प्रकाश की खोज में भटक रहे हैं। मनुष्य की अन्तरात्मा का देवासुर संग्राम जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है जब उसके ह्दयकाश में विषाद के अंधकार की घनघोर घटाएँ उमड़–घुमड़ पडती है, तब कहीं से प्रकाश की रेखा फूटकर उसे सही मार्ग दिखलाती हैं। अर्जुन जब विषाद से हार मानकर चारों खाने चिन्त होकर बैठगया तभी श्रीकृष्ण ने उसका मार्ग दर्शन किया। अन्धकार जब प्रगाढ़तम होता है तब प्रकाश के वह निकटतम् होता है

जैसे मनुष्य के मानस में अर्न्तद्वन्द चलता है, वैसे ही समाज में भी हमें विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। अर्जुन के जीवन में चुनाव हेतु एक तरफ धर्म था, दूसरी तरफ अधर्म। एक तरफ कर्तव्य था तो दूसरी ओर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, भीष्म पितामह आदि अन्य सगे सम्बन्धी जो अधर्म का, अनुचित का, साथ दे रहे थे से संघर्ष का आह्वान था। अर्जुन ऐसे मौके पर क्या करता? वह ऐसे मौके पर लड़ने के लिये आया था परन्तु सब सगे संबधियों को सामने देखकर सोच में पड़ गया। क्या मै अपने ही लोगों पर हाथ उठाऊँ ? अर्जुन की यह समस्या हर मानव की समस्या है। धर्म एक तरफ है और अपने सगे सम्बंधी दूसरी तरफ है। हम किसका साथ दें और किससे लड़ें ? अगर

धर्म, उचित, सच्चाई, ईमानदारी, निर्मोह, कर्तव्य का साथ दे तो सगे सम्बन्धियों का साथ छोड़ना पड़ेगा और यदि सगे सम्बन्धित का व्यामोह है तो धर्म, उचित, सच्चाई, ईमानदारी, कर्तव्य को छोड़ना पड़ता है।

उच्चकोटि के स्थिर साहित्य के दो पहलू होते हैं। एक तो अपने समय की समस्या के हल पर प्रकाश डालना दूसरा कुछ ऐसे तथ्यों को प्रकट करना जो हर देश काल के लिए स्थिर तत्व है। गीता ने महाभारत के युद्ध के समय अर्जुन के मन में मोहवश जो उथल–पुथल मच गयी थी उस समस्या का हल किया, यह इस साहित्य का सामयिक पहलू था, परन्तु साथ ही गीता ने अर्जुन को साधन बनाकर हर व्यक्ति के मानस में चल रहे मोहजनित अन्तर्द्वन्द तथा मानव समाज में हो रहे संघर्ष का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके ऐसे तथ्यों को प्रकट किया जो हर देश और काल के लिए उपयोगी है, यह इस साहित्य का स्थिर पहलू है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन की दुविधा के मूल कारण मोह को काट दिया। सब दुविधाओं का कारण 'मोह' है सब कष्टों का कारण मोह है। तभी गीता ने 18 वें अध्याय में श्रीकृष्ण का लम्बा उपदेश सुनने के बाद अर्जुन कहता है–

"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।"

अर्जुन बोले–हे अच्युत ! आपकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया और मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है, अब मैं संशयरहित होकर स्थित हूँ। अतः आपकी आज्ञा का पालन करुँगा।[1]

---

1. **"नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।**
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।" (गीता अध्याय 18 श्लोक–73)

अर्जुन का गीता के अन्त में 'नष्टो मोहः कहना सिद्ध करता है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय 'मोह' का नाश करना है। गीता के दूसरे अध्याय के 7वें श्लोक में अर्जुन ने अपने को 'धर्म समूढ़ चेताः' कहा है, समूढ़ का अर्थ भी मोहग्रस्त है।[1] 'मोह' के कारण ही तो हम सब भी दुविधा में पड़े रहते हैं।

मोह शब्द का अर्थ धातु पाठ के अनुसार मुह वैचित्त्ये– इस धातु से बना है। मन की वह अवस्था जिसमें मनुष्य विचित्त हो जाय, अपने चित्त में विवेक में न रहे, मोह की अवस्था कहलाती है। परन्तु 'मोह' इतने तक ही सीमित नहीं है। योग दर्शन में पाँच क्लेश गिनाये गये हैं– ''अविद्याा, अस्मिता, राग द्वेष, अविनिवेशाः, पंचक्लेशाः' – सबसे बड़ा क्लेश सब क्लेशों की जड़ 'अविद्या' है। अविद्या से 'अस्मिता' उत्पन्न होती है। 'अस्मिता' अर्थात जो मैं नहीं हूँ उस 'मैं' समझ लेना 'अहम–अस्मि' समझ लेना 'अस्मिता' है। इसी 'अस्मिता' की व्याख्या करते हुए सांख्य दर्शन ने कहा है– 'दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मता इव अस्मिता' – अर्थात् देखने वाले और दीखने वाले को एक समझ लेना ही 'अस्मिता' है। पुत्र कलत्र जो दिखाई देता है उसमें देखने वाला आत्मा 'मैं–पना' अनुभव करके सुखी होता है, दुःखी होता है, यही 'अस्मिता' है। योग शास्त्र की इसी 'अस्मिता' को गीता ने 'मोह' कहा है। 'अस्मिता' अर्थात् मोह में फँसकर ही तो अर्जुन युद्ध से भाग रहा था, अपने सगे सम्बन्धियों के मोह जाल में फँस गया था। इस 'अस्मिता' के 'संगभाव' को अनासक्ति के उपदेश से श्रीकृष्ण ने काट दिया।

---

1. **कार्पण्य दोषो पहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़ चेताः।**
यत्श्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।। (गीता अध्याय 2 श्लोक–7)

4.1. गीता का दार्शनिक अभिमत-

गीता वास्तव में वैदिक दर्शन का सारांश है, इस कथन का अभिप्राय यह है कि गीता में उन समस्त प्रचलित मान्यताओं जो समाज, धर्म, परमात्मा, आत्मा, जीव के सम्बन्ध में वह प्रस्तुत कर उनकी समस्याओं के निराकरण का प्रयास है। वास्तव में सभी दर्शन अपनी मान्यताओं को उचित मानते हैं और दूसरी मान्यताओं का खण्डन करते हैं किन्तु गीता में उन सबके सार तत्वों में सामंजस्य बैठाया गया है। इसका कारण ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज में शिक्षित एवं सुबोध व्यक्ति भी इन मतमतान्तरों के संघर्ष में अपने कर्तव्यों को भूल चुका था अथवा संदेह में पड़ा हुआ था।

प्रतीक रूप से अर्जुन का यह संदेह इसका प्रतिनिधित्व करता है। अर्जुन महाभारत के युद्ध में अपने सगे संबंधियों, बन्धु–बान्धवों को देखकर मोहग्रस्त होते हैं और उन्हें यह संदेह होता है कि वे इनकी हत्या के दोषी होंगे और हत्या के कारण पाप से लिप्त होकर अधोगति को प्राप्त हो जाएंगे। तथा वह जीव हत्या स्वजनों की हत्या, भावी वर्ण संकरों जनों की उत्पत्ति तथा व्यवस्था के नष्ट करने का दोषी होगा। इस कारण वह युद्ध से विरत होना चाहता है क्योंकि उसकी दृष्टि में इन सबका परिणाम राज्य प्राप्त करना मात्र है किन्तु श्रीकृष्ण के विराट रूप दर्शन के पश्चात् अर्जुन के कर्तापन का अहंकार दूर होता है।

श्रीकृष्ण ने सांख्य, योग, वेदान्त आदि की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट किया है कि मनुष्य के कर्म नियत हैं और वास्तव में कर्म करने या किसी कर्म के कर्ता होने का

भाव ही वास्तव में बन्धन का कारण है कर्त्ता तो अनादि ब्रह्म है और जीव या मनुष्य उस अंश का अंशी। इसी प्रकार से सभी कर्मों को अपने अन्दर विद्यमान उस अंश के (विचार के माध्यम से) जानकर केवल निष्काम भाव से किया जाने वाला कर्म ही मोक्ष का मुख्य मार्ग है। फल की आकांक्षा और कर्ता होने का भ्रम यही मुख्य बंधन का कारण है। वास्तव में गीता में सामान्य धर्मों के अतिरिक्त और एक ऋण की चर्चा की गई है।

सामान्य रूप से हम देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण की बात करते हैं किन्तु यह भूल जाते हैं कि व्यक्ति का योग क्षेम उसकी क्रियाएं तथा आवश्यकताएं शिक्षा समाज में ही पूर्ण होती हैं। इसीलिए समाज ऋण से मुक्त होना आवश्यक है और इसकी मुक्ति के लिए वह आवश्यक है कि समाज द्वारा व्यक्ति के लिए जो कर्म निर्धारित किया गया है उसका अनुपालन वह बिना किसी भेदभाव या रागद्वेष से करें क्योंकि समाज का हर एक प्राणी उस परम चैतन्य का एक अंशी है और इस प्रकार से हमारे मूल उद्‌गम स्रोत एक होने के कारण हमारा सखा एवं बन्धु है। इसलिए गलत कार्यों में लगे हुए सभी व्यक्तियों को सामान्य रूप से दण्डित करना राजधर्म है किन्तु अर्जुन अपने सासांरिक बन्धुजनों को देखकर जब इससे पलायन करना चाहता है तो श्रीकृष्ण प्रतीक रूप में उसके कर्मों को परिभाषित करते हैं और प्रकारान्तर से यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि युद्ध में जब वह (अर्जुन) अन्य लोगों को दण्ड देने में बध करता है तो उसे धर्म दिखाई देता है और जब उसी प्रकार के कार्यों में योजित अपने सांसारिक सम्बन्धियों को देखता है तो उससे पलायन करना चाहता है। यह उसका दृष्टिकोण समानता एवं न्याय के सिद्धान्तों के विपरीत है।

समानता का अभिप्राय सभी लोगों में गुण–दोष देखने की सामान्य प्रवृत्ति को इंगित करता है और न्याय के आसन पर बैठकर या न्याय के लिए युद्ध करने की बात कहकर इस प्रकार का विभेद उचित नहीं है यह न तो राजधर्म है और न क्षत्रिय धर्म है। समाज में इस प्रकार के विभेद के कारण ही न्याय और अन्याय का जन्म होता है इस प्रकार से स्पष्ट है कि गीता में सभी वैदिक धर्मों की दार्शनिक पृष्ठभूमि को समानता के आधार पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है। सांख्य, योग, वेदान्त, द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी में जीव और ब्रह्म को समान रूप से देखने की शिक्षा दी गयी है।

गीता में दार्शनिक आधार पर यह स्पष्ट किया गया है कि शरीर धारी को कर्म करना आवश्यक है और इसमें परमब्रह्म परमेश्वर भी यदि शरीर धारण कर जन्म लेता है तो उसे भी कर्म करना आवश्यक होता है। यदि ऐसा न करें तो कर्म करने की प्रवृत्ति का लोप होगा और जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन्होंने जन्म धारण किया है वह अपूर्ण रह जायेगा। इसी के साथ उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि कर्म के फल के साथ लिप्तता ही बन्धन का कारण है और उससे निर्लिप्तता मोक्ष का मार्ग है इसलिए सभी कर्म और उसके फल को परमब्रह्म परमेश्वर को समर्पित करके किया जाना चाहिए। इससे अंशी को अपने मूल स्थान से सदैव सम्पर्क बना रहता है और इस शरीर के त्याग के पश्चात् उसका उसी में विलीनीकरण हो जाता है, संक्षेप में यही गीता का दार्शनिक अभिमत है।

आत्मा की अमरता–

उपनिषदों की भाँति ही भगवद् गीता में भी परम तत्व आत्मा या ब्रह्म का विशद् विवेचन किया गया है। आत्म तत्व का विवेचन कृष्ण के उस उपदेश में निहित है जो मोह माया से ग्रसित, कर्तव्यों से विरत शोकाकुल हुए अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए दिये हैं। आत्मा का वर्णन वैसे गीता के अन्य अध्यायों में भी है परन्तु मुख्य रूप से दूसरे अध्याय में इसका विशद् विवेचन मिलता है। क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम–ये गीता के तीन तत्व हैं। सभी भूत, क्षर हैं, [illegible] क्योंकि इनकी प्रकृति जिनमें परिवर्तन नहीं होता, जो कूटस्थ, नित्य, अविनाशी है वही अक्षर पुरुष या क्षेत्रज्ञ है। पुरुषोत्तम या परमात्मा के अन्दर ये क्षर और अक्षर दोनों समा जाते हैं। वस्तुतः यह पुरुषोत्तम 'क्षर' 'अक्षर' से अतीत व दोनों से उत्तम है।

गीता के अनुसार आत्मा अजन्मा, नित्य शाश्वत व पुरातन है। यह शरीरादि से भिन्न षट्विकारों से रहित है। न वह जन्मता है न वह मरता है, वह सत्ता का अनुभव कर कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता है। जब उसका अभाव ही नहीं हो सकता[1] तब आत्मा जो सत् है उसका नाश कैसे होगा ? अर्थात् आत्मा अमर है। यह सूक्ष्मतम वस्तु जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है, अविनाशी है इसका कोई विनाश नहीं कर सकता।[2] यह जन्म और मृत्यु से परे है जो जन्मता है और मरता है, उसके विषय में ऐसा कहा

---

1. **न जायते म्रियते वा कदाचि, न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**
   अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। (गीता अ० 2–20)
2. **वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजव्ययम्।**
   कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्तिकम्।। (अ० 2–21)

जा सकता है कि यह उत्पन्न होकर कुछ काल के बाद अभाव को प्राप्त होती है और तत्पश्चात् यह देह अभाव को प्राप्त होती है, जब वह मृत्यु को प्राप्त होती है तब आत्मा का अभाव नहीं होता इस नाश रहित अप्रमेय, नित्य स्वरूप आत्मा के ये सब शरीर नाशवान कहे गये हैं।[1] जब हम यह कहते हैं कि आत्मा सत् है क्योंकि इसका अभाव नहीं होता कि सत् सामान्य है कि या विशेष है या स्वरूप है। यदि सामान्य है तो उसे विशेष की अपेक्षा होगी, इसलिए प्रलय दशा में सम्पूर्ण विशेषों का विनाश होने पर उसका भी विनाश हो जायेगा। कार्य होने से विशेषों का प्रलय में नाश होगा तो उनका धर्म होने से सामान्य का भी नाश होगा। यदि सत् स्वरूप है तो वह व्यावृत्त होने कारण कल्पित होगा इसलिए विनाश से मुक्त होगा। अतः आत्मा सामान्य विशेष दोनों से शून्य है इसलिए किसी प्रकार भी उसका विनाश उत्पन्न नहीं है।

अतः आत्मा को कभी विनष्ट नहीं किया जा सकता। हन्यमान शरीर में भी कभी उसका हनन नहीं किया जा सकता। जो पुरुष अहं पदार्थ आत्मा को हनन क्रिया का कर्ता और जो हनन क्रिया का विषय मानता है वे दोनों आत्मा को नहीं जानते।[2] आत्मा को शस्त्रों द्वारा नहीं काटा जा सकता, आत्मा को अग्नि द्वारा नहीं जलाया जा सकता, आत्मा को पानी द्वारा नहीं गलाया जा सकता और न ही वायु द्वारा उसे सुखाया जा सकता है।[3] अर्थात् आत्मा अच्छेद, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है और नित्य,

1. अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
   अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माधुध्यस्व भारत।। (अ० 2–18)
2. गीता अ०–2 श्लोक–19
3. नैनं छिन्दन्ति शत्राणि नैनं दहति पावकः।
   न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयतिमारुतः।। (अ० 2 श्लोक–23)

सर्वव्यापी या सर्वगत, अचल, स्थिर और सनातन है।[1] सर्वगत से तात्पर्य है कि जितने भी पदार्थ जगत् के अन्दर हैं, उनके अणुरेणु में और उनके बाहर भी वह आत्मा पूर्णतया व्याप्त है। कोई पदार्थ या किसी पदार्थ का कोई अवयव इसके बिना नहीं है। जगत् के पदार्थ हमें ज्ञात हों या न हों, उनमें वह पूर्णतया व्याप्त है, अतः वह सर्वगत है। यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य तथा विकार रहित है।[2]

अव्यक्त इस रूप में है कि पृथ्वी का गंध गुण इसमें नहीं है अतः सूँघकर नाक से इसका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, आत्म तत्व का रस गुण इसमें नहीं है अतः जिह्वा से इसे चखा नहीं जा सकता, अग्नि तत्व का रूप गुण इसमें नहीं है, अतः आँख से इसे देखा नहीं जा सकता, वायु तत्व का स्पर्शगुण इसमें नहीं है अतः स्पर्श से भी इसका ज्ञान नहीं हो सकता, इसी प्रकार कर्ण से भी इसका ज्ञान नहीं हो पाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारी सुलभ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आत्मा का ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिए इसे अव्यक्त कहा गया है। आत्मा को अचिन्त्य इसलिए कहा गया है कि मन से आत्मा का चिन्तन होना कठिन है क्योंकि जिसका मन से ग्रहण हो सकता है उसी का मन से चिंतन हो सकता है। आत्मा का यह वर्णन उपनिषदों से लिया गया है। यह वर्णन निर्गुण आत्मा का है सगुण का नहीं क्योंकि अविकार्य या अचिन्त्य विशेषण सगुण के लिए लग ही नहीं सकते।

---

1. **अच्छेद्योऽयमदाहयोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।**
   नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।। (अ० 2 श्लोक–24)
2. **अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम विकार्योऽयमुच्यमुच्यते।**
   तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।। (गीत अ० 2 श्लोक–25)

यहाँ यदि कोई पूर्वपक्ष प्रस्तुत करें कि हम आत्मा को नित्य नहीं समझते इसलिए आत्मा की यह उत्पत्ति हमें ग्राह्य नहीं है तो अलगे ही श्लोक में पूर्वपक्षी को गीता बताती है कि ठीक है ! यदि तुम ऐसा ही मानते हो कि यह आत्मा अमर नहीं वरन शरीर के साथ जन्मता और मरता है, तो भी उसका शोक करना उचित नहीं।[1] क्योंकि जन्मता है उसकी मृत्यु निश्चित है इसलिए शोक करना भी उचित नहीं है।[2] श्रीकृष्ण अर्जुन को बताते हैं कि आत्मा तो सत्, नित्य, अज, अविकार्य, अचिन्त्य व निर्गुण है ही फिर भी यदि तुम इसे अनित्य भी मानो तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि जो जन्मेगा उसकी मृत्यु होगी ही। शरीर से आत्मा की भिन्नता को दिखाकर कई स्थानों पर भगवद् गीता में आत्मा को अविनाशी बताया गया है।

गीता में आत्मा को क्षेत्रज्ञ भी कहा गया है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और पंचमहाभूतों का संघात यह शरीर 'क्षेत्र' है।[3] अर्थात् इन्द्रियों सहित पंचमहाभूतों से बना यह शरीर क्षेत्र है। क्षेत्र की व्याख्या पूर्णरूपेण गीता ने की है।

इस क्षेत्र का ज्ञाता अथवा इसका स्वामी क्षेत्रज्ञ या आत्मा है।[4] इस चेतना विशिष्ट सजीव शरीर या क्षेत्र में एक ऐसी शक्ति रहती है जो हाथ–पैर आदि इन्द्रियों से लेकर

---

1. **यथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।**
   तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।। (गीता अध्याय 3–श्लोक–26)
2. **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रवं जन्ममृतस्य च।**
   तस्माद परिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।। (गीता अ० 2 श्लोक–27)
3. **इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।**
   एतत्क्षेत्रं समासेन सविकार मुदाहृतम्।। (गीता अध्याय 13 श्लोक–6)
4. **इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यमिधीयते।**
   एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।। (गीता अ० 13 श्लोक–1)

प्राण, चेतना, मन और बुद्धि जैसे परतंत्र एवं एकदेशीय नौकरों से भी परे है जो उन सबके व्यापारों की एकता करती है जो उनके कार्यों की दिशा का निर्देशन करती है अथवा जो उनके कर्मों की नित्य साक्षी रहकर उनसे परे व्यापक है, वही आत्मा या क्षेत्रज्ञ है विषयों की अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है और जो बुद्धि से परे या साक्षी रूप से जो अव्यवस्थित होकर बुद्धि आदि को प्रकाश करता है वही आत्मा है।[1] सांख्य में इसी को पुरुष कहा गया है। वेदान्ती भी इसी को क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहते हैं। यहाँ पर कठोपनिषद[2] में वर्णित इसी प्रकार के रूपक का उल्लेख प्रासंगिक है, जिसमें बताया गया है कि यह शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो रथ से श्रेष्ठ है, बुद्धि सारथी है और मन को लगाम बताया गया है तथा आत्मा को रथ का स्वामी बताया गया है।[3]

गीता यहाँ यह बताती है कि इन्द्रियों की अपेक्षा मन और मन की अपेक्षा बुद्धि श्रेष्ठ है वही इसके विरोधी रूप में यह भी कहती है कि–'यत्न करने वाले बुद्धिमान पुरुष के मन को भी प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं।[4] प्रमथन शब्द का प्रयोग करके यह दिखाया गया है कि जब तक मनुष्य की इन्द्रियाँ वश में नहीं हो जाती और जब तक उनकी इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति रहती है तब तक इन्द्रियाँ मनुष्य के मन को बार–बार विषय सुख का प्रलोभन देकर उसे स्थिर होने नहीं देती, उसका मन्थन

---

1. **इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।**
   मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।। (गीता अ० 3–42)
2. **गीता अध्याय 3–42**
3. **कठोपनिषद 1/3/3–4**
4. **यततो हापि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।**
   इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।। (गीता अ० 2–50)

ही करती रहती है। अतः बिना जीती हुयी इन्द्रियाँ वास्तव में मन, बुद्वि की अपेक्षा निर्बल होते हुए भी सबल हुयी रहती हैं।

आत्मा जो अक्षय है अनादि और निर्गुण होने के कारण न कोई कार्य करता है, न इसमें कोई दोष ही लग पाता है, यद्यपि यह शरीर में अवस्थित है। यह कर्ता नहीं है, साक्षी मात्र है। विकास या समस्त नाशक पदार्थ जगत् से संबंध रखता है। प्रमाता या ज्ञाता आत्मा जो हमारे अन्दर है एक समान वह बाह्य जगत् से अनासक्त है। अतः गीता के अनुसार आत्मा अमर, अजर, अविनाशी, नित्य, शाश्वत, पुराण, अप्रमेय अव्यय, अच्छेद्य, अशोष्य, सर्वगत, त्याणु, अचल, सनातन, अचिन्त्य अविकार्य और अव्यक्त है।

उपनिषदों की ही भावना के अनुरुप 'गीता' भी आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करती है। इस मर्त्य शरीर के पीछे 'आत्मा' है जो शरीरादि से भिन्न है और संसार के क्षणिक पदार्थों की पृष्ठभूमि 'ब्रह्म' है दोनों एक हैं क्योंकि दोनों एक स्वभाव वाले हैं। अर्थात् ब्राह्य सृष्टि के नाम रूप से दोनों एक ही हैं। ये दोनों अमर, अव्यय और समरूपी हैं। यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र एक सा व्याप्त, अज्ञेय और अनिर्वाच्य है तो भी जड़ सृष्टि का और आत्म स्वरूपी ब्रह्म तत्व का भेद व्यक्त करने के लिए आत्मा के सानिध्य से जड़ प्रकृति में चैतन्य रूपी जो गुण हमें दृष्टिगोचर होता है उसी को आत्मा का प्रमुख लक्षण मानकर अध्यात्म शास्त्र में आत्मा व ब्रह्म दोनों को चिद्रूपी या चैतन्य रूपी कहते हैं। यदि सरल भाषा में कहें तो आत्मा व ब्रह्म के एकत्व को इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में हैं। वह देह में स्थित आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है वह साक्षी होने से उपदृष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका

धारण पोषण करने वाला होने से भर्ता जीव रूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का स्वामी होने से महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा है।[1]

भगवद्गीता में परमतत्व या ब्रह्म की अवधारणा उपनिषदों पर ही आधारित है। गीता एक विशेष तत्व पुरुषोत्तम को मानती है। जिसमें पर ब्रह्म की निर्विकारता और अपर ब्रह्म की सगुणता दोनों का समावेश है। गीता परमतत्व के दो भावों अपर भाव व पर भाव की सत्ता बतलाती है।

निष्कर्षतः हम देखते हैं कि आत्मतत्व की जानकारी रखना श्रीमद् भगवद् गीता का आदर्श रहा है। 'आत्मा' शब्द की यदि व्याख्या की जाए तो सबसे अधिक सम्भावना यह है कि 'आत्मन्' का मूल अर्थ श्वास था और बाद में इसका प्रयोग किसी भी वस्तु के विशेष रूप से मनुष्य के सारभाग के लिए होने लगा। अर्थात् कालक्रम से 'आत्मन्' शब्द का अर्थ मनुष्य के अन्दर चैतन्य हो गया। आचार्य शंकर स्मृति को उद्धत करते हुए कहते हैं कि–''आत्मा वह है जो सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करताहै और इस लोक में विषयों का भोक्ता है तथा जिसका सर्वदा सद्भाव है।'' इस प्रकार आत्मा एक अद्भुत सार तत्व है जो सत्य रूप अविनाशी, नित्य व व्यापक है।

आत्मा का अभिप्राय चेतन अव्यक्त तत्व से है इसका उल्लेख मूल ग्रन्थ (गीता) में आया है। कठोपनिषद एवं ब्रह्म सूत्र में दो आत्म तत्वों (जीवात्मा और परमात्मा) का उल्लेख आया है इसी प्रकार गीता में भी आत्मा शब्द से दो आत्म तत्वों का ही अर्थ लिया जाता है कभी जीवात्मा का कभी परमात्मा का।

1. **उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।**
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।। (गीता अ० 13–22)

सारांश रुप में हम देखते हैं कि जिस प्रकार उपनिषदों की शिक्षा का मूल वेदों से गृहीत है उसी प्रकार गीता के आध्यात्मिक दर्शन की मौलिक प्रेरणा भी उपनिषदों से ली गयी है। वेद से लेकर उपनिषदों तक जो अध्यात्म विद्या की अप्रतिहत मान्यता थी वहीं सार रुप में गीता में वर्णित है जो सुगम होने के साथ–साथ युगोपयोगी है।

आत्मा सम्बन्धी उपर्युक्त कतिपय उपाख्यानों से यह स्पष्ट है कि मुख्य दार्शनिक अभिमत आत्मा की अमरता महत्वपूर्ण रहा है।

स्थित प्रज्ञावस्था–

गीता दर्शन एक व्यवहारिक दर्शन है यह मात्र सैद्धांतिक ग्रन्थ नहीं है अपितु यह एक आचार शास्त्र है। श्रीकृष्ण ने गीता में जो भी उपदेश दिया है वह मात्र उस समय के मनुष्य के लिये ही उपयोगी था, आज नहीं है ऐसा नहीं है। अपितु गीता में काल बन्धन नहीं है, उसमें जो विचार हैं वे सभी त्रिकाल बन्धन से परे हैं।

श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कैसा होता हैं इसका एक चित्र प्रस्तुत किया है। सचमुच में आज के इस सांस्कृतिक विषम काल में विद्यार्थी एवं शिक्षक की बुद्धि स्थिर नहीं है। आज वह कुछ सोचता है और कल कुछ करने लग जाता है। उसके विचारों में, सिद्धांतों में, स्थिरता का अभाव दिखाई देता है। आज का व्यक्ति अपने लक्ष्य के प्रति एकाग्र नहीं है उसमें तल्लीनता नहीं है उसे प्राप्त करने के लिये उसमें समर्पण नहीं है। उसके मन मस्तिष्क में अनेक द्वन्द हैं। अनेक संकल्प विकल्प हैं। वह अपने विचारों के प्रति कटिबद्ध नहीं है।

बुद्धि की स्थिरता के सम्बन्ध में अर्जुन और श्रीकृष्ण के बीच में वैचारिक बात प्रारम्भ होती है जो अद्योलिखित है–

अर्जुन कहते हैं कि स्थित प्रज्ञस्य का भाषा.........(54) स्थित प्रज्ञ प्रत्यक्ष कैसा होता है ? कैसा रहता है ? कैसे आचरण करता है ? अर्जुन के इस प्रश्न का उत्तर श्रीकृष्ण अठारह श्लोकों में देते हैं उसमें स्थितप्रज्ञ का वर्णन है। यह गीता का ध्येय दर्शन है। मानवी जीवन की उन्नति के हेतु प्रयत्नशील रहने वालों को गीता ध्येय देती है। स्थितप्रज्ञ यानी जिसकी प्रज्ञा स्थिर है वह जिसकी बुद्धि में कम्पन्न नहीं है। आज की परिस्थिति में शैक्षिक परिवेश में जो अपने कर्तव्य कर्मो के प्रति अस्थिरता दिखाई देती है उसमें प्रस्तुत विषय काफी व्यावहारिक लाभ दे सकता है। विद्यार्थियों में जो अस्थिरता बनी वे अपने लक्ष्य से भटके दिखाई देते हैं। उनके लिए गीता का यह प्रकाश यह वैचारिक उपदेश उनके जीवन में एक नया मोड़ ले आ सकेगा।

भावनाएँ जिसकी बुद्धि को कंपित नहीं कर सकती ऐसा गीता का स्थित प्रज्ञ निष्काम कर्मयोगी होता है। इसलिए कहते हैं कि–

प्रज्ञहाति यदा..................(55) (गीता अ० 2 श्लोक 55)

जो सर्वकामनाओं का त्याग करता है। दूसरी बात यह है कि स्थितप्रज्ञता के लिए अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना आना चाहिए। इन्द्रिय संयम होना चाहिए भोगों को परिमित किये बिना इन्द्रिय संयम सम्भव नहीं है। श्रीकृष्ण कछुए का उदाहरण देते हैं और कहते हैं कि "जब इच्छा हो तब कछुआ उपभोग के लिए अपने अंग बाहर निकालता है और जब चाहे तब वह अन्दर भी लेता है।" उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ को भी विषयों से निवृत्त और उनमें प्रवृत्त होने में विलम्ब नहीं लगता है। यदा संहरते चायं.................(48)

यह तभी सम्भव है जब किसी भी कर्म को प्रतिमन में आसक्त न हो और मन में

पूर्ण रुप से नियंत्रित हो। कोई भी व्यक्ति यदि ठहरायेगा तो उपभोग में पूर्ण रुप से आसक्त हो सकता है अथवा उससे बिल्कुल पराङ्मुख भी हो सकता है। किन्तु परिमित उपभोग के लिए मनुष्य अपनी इच्छानुसार प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः अभ्यास द्वारा ही इन्द्रिय संयम आता है मन का निग्रह किए बिना सिर्फ बैठे रहने से क्या होगा? और उसका परिणाम क्या होता है यह भी भगवान समझाते हैं।

ध्यायतो विषयान्पुंसः........................(62)

क्रोधाद्भवति सम्मोहः........................(63)

(गीता अ० 2 श्लोक 66, 65)

विषयों का चिंतन करने वाला पुरुष उसमें आसक्त हो जाता है आसक्ति से कामना पैदा होती है, कामना से क्रोध का प्रादुर्भाव होता है क्रोध से मूढ़त्व प्राप्त होता है और मूढ़त्व स्मृति को नष्ट कर देता है स्मृति नष्ट होने से बुद्धि भी नष्ट हो जाती है और बुद्धि नष्ट हुई कि मनुष्य का सर्वनाश होता है। गीताकार कहते हैं कि अगर तू विषयों का ध्यान धरता रहेगा तो तेरी इन्द्रियाँ विषयों में ही विचरण करती रहेंगी और काम निर्माण होगा। काम अगर पूर्ण नहीं होता तो क्रोध पैदा होता है और काम पूर्ण होता है तो लोभ पैदा होता है। लालची मनुष्य विशेष रूप से बुरा है क्योंकि वह बिल्कुल श्रद्धाशून्य और डरपोक होता है आत्म विश्वास शून्य और ईश विश्वास शून्य होने से लालची बनता है। क्रोध से सम्मोह भी पैदा होता है सम्मोह भ्रम पैदा करता है भ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धि नाश की परिणति आत्मनाश में होती है। ऐसा यह पूर्ण चक्र है।

अर्थात् अगर मनः शान्ति चाहिए तो इन्द्रियों को संयमित करना चाहिए, ऐसा कहकर स्थितप्रज्ञ दर्शन में इन्द्रिय स्वाधीनता समझायी गयी है।

दुखेष्वद्विग्नमनाः................................(56) (गीता अ० 2 श्लोक 56)

यह मानसिक स्थिति है सुख या दुःख से मानसिक अस्वस्थता नहीं आनी चाहिए। सुख–दुःख का स्वीकार सत्कार और उसमें ईश प्रेम दर्शन इस प्रकार यह उत्तरोत्तर उर्ध्वगामी सीढ़ियाँ है। अनुकूल या प्रतिकूल बातों से उनकी मन शान्ति विचलित नहीं होती। गीताकार उसे प्रमाद कहते हैं।

प्रसादे सर्वदुःखानां..............................(65) (गीता अ० 2 श्लोक 65)

आत्मतृप्त और आत्मतुष्ट स्थिति में मनः शान्ति होती है और वही प्रसाद है अर्थात् स्थितप्रज्ञ द्वन्द्वातीत होता है। उसका वर्णन गीताकार कहते हैं–

नाभिनन्दति न द्वेष्टि.....................(57) (गीता अ० 2 श्लोक 57)

इन सब लोगों के लिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मत्परः' बनने वाला ही स्थितप्रज्ञावस्था में स्थिर रह सकता है। आजीवन इन्द्रिय संयम के द्वारा मत्परः रहने वाले के लिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि–

एषाः ब्राह्मी स्थितिः................................(72) (गीता अ० 2 श्लोक 72)

अन्तकाल में भी इस स्थिति में रहकर वह शान्त ब्रह्मपद को पहुँचाता है (उसको अमृमत्व प्राप्त होता है।) जिन भावनाओं का सम्पूर्ण जीवन में चिन्तन किया हो, वे भावनाऐं ही अन्तकाल में आकर सामने खड़ी हो जाती हैं इसलिए ही जीवन भर 'मत्परः' बनने का भगवान आग्रह रखते हैं। स्थित प्रज्ञता यह एक वृत्ति है, बाहरी दिखावट नहीं है। इसके द्वारा गीताकार आन्तरिक विकास समझाते हैं।

यह अध्याय बुद्धि प्रधान है। इस अध्याय में सूत्र रूप में जीवन शास्त्र के सिद्धांत कहे गये हैं। इसलिए यह अध्याय जीवन शास्त्र है।

बाह्य शरीर द्वारा सम्पूर्ण व्यवहार के चलते रहने पर भी अन्दर से अलिप्त जीवन का होना संशयास्पद है। राजनीतिज्ञ लोगों का जीवन ऐसा होता है जो लोग कुटिल और दंभी होते हैं, जिन्हें दूसरों को मूर्ख बनाना और मिथ्या प्रेम प्रदर्शित करना होता है। वे बाहर से तो अत्यन्त प्रेम दिखाते हैं परन्तु अन्दर से अलिप्त रहते हैं। बाह्य दृष्टि से विश्व पर प्रेम करते हुए भी मानसिक अलिप्तता कैसे प्राप्त करना यह जीवन की एक श्रेष्ठतम कला है। इसमें कोई ढोंग या दम्भ करेगा तो नहीं चल सकता।

गीताकार को सम्पूर्ण स्थितप्रज्ञ दर्शन समझाने की आवश्यकता ही इसलिए हुयी कि समस्त जगत पर अतिशय प्रेम करते हुये मन से अलिप्त रहना यह बात कोई महान व्यक्ति कर सकता है। दांभिक न रहते हुए ऐसा जीवन किस प्रकार जियें इस समस्या का हल गीता समझाती है। गीता का स्थितप्रज्ञ एक महामानव है वह उपनिषद प्रणीत परम्परा का है। वह एक पूर्णता की स्थिति है।

स्थितप्रज्ञ कर्मयोगी है–

गीता का स्थितप्रज्ञ कैसा है ? तो वह कर्मयोगी है। गीता सर्वप्रथम इस बात को कहती है। गीता का स्थितप्रज्ञ ऐसा शान्तिवादी पति नहीं है जिसे तत्वज्ञानी लोग Quietistic Ascetic कहते हैं। कर्म के मूल में अज्ञान है, इसमें तो किसी का मतभेद नहीं हो सकता, गीताकार का भी नहीं। न्याय सूत्र के अनुसार भी विपरीत ज्ञान (अज्ञान) से कर्म होते हैं अर्थात् कर्म का मूल अज्ञान है किन्तु यह अर्ध सत्य है। गीता की मान्यता है कि अज्ञान के दूर हो जाने के पश्चात भी आज्ञांकित अर्थात भक्त कर्म करता है। 'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'–ऐसा गीताकार कहते हैं। गीता कर्म में रहने वाले अहम (9 Ness) को

निकालने को कहती है। कर्मयोगी मानव आज्ञांकितता से कर्म करता है। सम्पूर्ण पापों का मूल 'अहं' है। ईश्वर के साथ एकता साधने के लिए मूलभूत शर्त 'अहं' का त्याग है। Self is the center and essence of all sins and surrendfer of self is the simple condition of union with God. युक्त

आसीत मत्परः–

ऐसा गीता कहती है इसलिये आज्ञांकित बनकर ही काम होता है कर्म का कारण वासना अथवा अज्ञान ही होते हैं ऐसा नहीं अपितु आज्ञा तथा वैश्विक आवश्यकता (Universal Nacessity) भी हो सकता है।

गीता का स्थितप्रज्ञ बोलता है, चलता है, फिर भी वह कर्मयोगी होता है मूल बात यह है कि वह युक्त आसीत मत्परः होता है। गीता की स्थितप्रज्ञ और पूर्णता की कल्पना तथा इस सम्बन्ध में दूसरे लोगों की कल्पना में अन्तर है गीता ब्रह्म निर्वाण की बात करती है, जब कि दूसरे लोग केवल निर्वाण के सम्बन्ध में ही बात करते हैं।

स्थितप्रज्ञ की निश्चल बुद्धि :

गीता के प्रारम्भ में ही श्रीकृष्ण ने कहा है कि बुद्धि में चंचलता और वक्रता नहीं होनी चाहिए। वह सर्वदा अविचल रहनी चाहिए। स्थितप्रज्ञ अर्थात जिसकी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर, निश्चल और ऋजु (सरल) है। ईर्ष्या, द्वेष, दया, वात्सल्य, करुणा आदि भाव बुद्धि में वक्रता और चंचलता लेकर उसे विचलित कर देते हैं अहंकार के आने से ये सब भाव आते हैं। अहं बुद्धि अकेले नहीं आती, वह अपने साथ उपरोक्त भावों से किसी न किसी को लेकर आती है। गीता ने अहंकार रहित बुद्धि को ही प्रज्ञा कहा है। गीता का

कर्मयोगी अहंकार और वासना रहित होने पर भी कर्मरत रहता है 'युक्त आसीत मत्परः' वह ईश्वर की आज्ञा को स्वीकार कर काम करता है। अपने शरीर पर उसका अपना नहीं बल्कि प्रभु का अधिकार होता है उसने उसे प्रभु के हाथों में सौंप दिया होता है।

बिना निष्कामता स्थितप्रज्ञता नहीं–

गीता कहती है कि स्थितप्रज्ञ कर्म योगी होने के बाद उसमें निष्कामता आनी चाहिए। तभी वह स्थितप्रज्ञ होता है। वह निरिच्छ व निःस्प्रह होना चाहिये तभी उसमें स्थित बुद्धित्व आता है। इसका अर्थ उसमें फलाकांक्षा रहितता (Desirelessness) आनी चाहिए। उसके लिए निष्कामता लानी होती है। किस मर्यादा तक ? गीता कहती है, 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्'–मन में रही हुई सभी कामनाओं इच्छाओं को निकलना पड़ेगा। इसका अर्थ उसके मन में किसी प्रकार की भी कामना नहीं रहनी चाहिए।

दुःख में अनुद्विग्न–दुःख का स्वीकार–

गीता का स्थितप्रज्ञ अर्थात् पुरुषोत्तम। स्थितप्रज्ञ अर्थात् जिसमें जीवात्मा और परमात्मा की आध्यात्मिक एकता है वह। स्थितप्रज्ञ की अपनी आशा – आकांक्षा नहीं होती, ऐसा गीता कहती है वह केवल ईश्वर की आशा–आकांक्षा से चलता और जीवन व्यवहार करता है इसलिए उसके सम्बन्ध में कहा गया है–

दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगत स्पृहः।

वीतारागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

"स्थितप्रज्ञ को दुःख से उद्विग्नता, सुख की स्पृह तथा भय, राग और क्रोध नहीं होता।"

राग, भय, क्रोध और तृष्णा का उद्भव कामना के परिणाम है। कामना के आने से ये आयेंगे ही भले ही फिर भक्ति की ही कामना क्यों न हो। कामना क्षुद्र होती है ऐसा नहीं। स्थितप्रज्ञ उद्विग्न नहीं बनता और उसको दुःख नहीं आता ऐसा गीताकार का कहना नहीं है परन्तु स्थितप्रज्ञ को दुःख में भी मानसिक अस्वस्थता नहीं होती– दुःखेषु 'अनुद्विग्नमनः' उसी प्रकार सुख में भी वह निःस्पृह रहता है– 'सुखेषु विगतस्पृहः।'

समता अर्थात द्वन्द्वातीतता–

स्थितप्रज्ञ बने हुए महापुरुषों और भगवान के मध्य आध्यात्मिक एकता होती है। स्थितप्रज्ञ निष्काम कर्मयोगी होता है, इसलिए वह कभी दुःख सुख से नहीं घबड़ाता। वह जानता है कि उसका स्वामी ही उसको इस जगत में लाया है। जिस प्रकार मैं पति के साथ ही झोंपड़ी में रहूँगी ऐसा कहकर लड़की अपने पिता का बंगला छोड़कर अपने प्रियतम के साथ एक छोटी सी झोंपड़ी में रहने के लिये जाती है ठीक उसी प्रकार की स्थितप्रज्ञ की भी अपने स्वामी भगवान के साथ आध्यात्मिक एकता होती है।

गीताकार ने स्थितप्रज्ञता की आवश्यकता दिखायी है। समता अर्थात् द्वन्द्वातीत परन्तु स्थितप्रज्ञ जगत में भटक रहा है तो उसमें समता कहाँ से होगी ? अनुकूल अथवा प्रतिकूल व्यक्ति, वस्तु अथवा परिस्थिति की ओर देखने का उसका दृष्टिकोण भिन्न होता है वह आत्मसंयमी होता है। वह अनुकूल बातों से हर्षोन्मत नहीं होता तथा प्रतिकूल अवस्था में भग्नचित्त नहीं होता।'नाभिनन्दति ने द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'ऐसी स्थिति समता है। महामानव (Superman) के सम्बन्ध में पाश्चात्य चिंतक कहते हैं – He will have friedship and pity for all frings and hatred for none. He initiates no action यह

उद्धरण मानो 'नाभिनन्दति न द्वेष्टि' का ही भाषान्तर हो। अनुकूल अथवा प्रतिकूल परिस्थितियों से उसकी मनः शान्ति भंग नहीं होती।[1] गीता इसे प्रसाद कहती है।

प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योप जायते।

प्रसन्न चेतसो हाशुः बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

'प्रसाद' अर्थात् मन की शान्ति। मनः शान्ति यह भिन्न ही बात है। आत्मतुष्ट व आत्मतृप्त स्थित में मनः शान्ति होती है और वही प्रसाद है। प्रसादस्तु प्रसन्नता–प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता।

अथर्ज्ञत् मानसिक शान्ति बाहर से मिलने वाली वस्तु नहीं है वह अन्दर से स्फुरित और स्रावित होने वाला स्रोत है। कोई पागलों के समान कितना ही हँसता रहे परन्तु उससे मानसिक शान्ति नहीं मिलती। स्थितप्रज्ञ दर्शन में रोना और हँसना दोनों विकार माने गये हैं उसमें वृत्ति की समता होती है, वृत्ति की चंचलता नहीं।

स्थितप्रज्ञ कर्ता नहीं है–

गीताकार कहते हैं वह कर्म करके भी शान्त रहता है उसे वस्तु सुख नहीं अपितु आत्म सुख होता है। फलतः वह पाप पुण्य का उत्तदायी भी नहीं होता है। स्थितप्रज्ञ को पाप पुण्य का भी दोष नहीं लगता क्योंकि वह स्वयं कोई कृति नहीं करता। उसमें 'मैं' और 'मेरापन' चला जाता है, तब पाप पुण्य भी नहीं रहता। वह कर्म करने पर भी मुक्त होता है, ऐसा गीता कहती है।

स्थितप्रज्ञता एक वृत्ति है। वह वस्त्र नहीं पहनता ऐसा नहीं है। उसके सिर पर

---

1. **श्रीमद्भगवद्गीता अ० 2 श्लोक–65**

कोई सींग नहीं होती। वह बौद्धिक तथा मानसिक रुप से पूर्ण विकसित Super Rational मानव की अवस्था है। वह Anti Rational नहीं अपितु आत्मतृप्त, आत्मतुष्ट और आत्मनिष्ट स्थित में होता है जिसमें वह निरहंकार बनकर अपने शरीर को चित्त् शक्ति के हाथों में सौंप देता है।

स्थितप्रज्ञ के सम्बन्ध में यह प्रश्न नहीं रहता कि वह धनवान है या कंगाल। राजा जनक भी स्थितप्रज्ञ रह सके और शुकदेव भी स्थितप्रज्ञ थे। वह कौन से वस्त्र पहनता है यह प्रश्न नहीं है। स्थितप्रज्ञ दर्शन में श्रीकृष्ण ने मानव के आन्तरिक विकास को समझाया है।

विभूति योग–

श्रीकृष्ण ने गीता के दसवें अध्याय में विभूतियों को विस्तार से समझाया है। योग अर्थात् कौशल्य। विभूति का तात्पर्य है ऐश्वर्य अथवा शोभा प्रकट करने का कौशल्य इसी का दूसरा नाम है विभूति योग।

इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपने मुख से ही अपनी विभूतियाँ समझायी हैं और कहते हैं–

अहमात्मा गुडाकेश................20

(गीता अध्याय 10–20)

हे अर्जुन ! मैं सभी प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा हूँ और भूतों का आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।[1]

---

1. **अध्यात्मा गुडकेश सर्वभूताशयस्थितः।**
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।। (श्रीमद्भगवदगीता अ० 10 श्लोक 20)

श्रीकृष्ण इस श्लोक में अर्जुन से कहते हैं – हे अर्जुन पूरे जगत में मैं बैठा हूँ। सारी सृष्टि विभूति ही है, व्यक्ति नहीं। ऐसा कहकर श्रीकृष्ण गीता में एक के बाद विभूति समझाते हैं जैसे – ब्राह्मण का विभूतिमत्व बताया फिर क्षत्रिय का विभूतिमत्व तदनंतर स्त्री की विभूति का वर्णन किया उसके पश्चात जड़ वस्तुओं एवं इन्द्रियों की विभूति बतायी फिर अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं–

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। (अ० 10 श्लोक–40)

हे परंतप ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है उनका विस्तार मैंने दृष्टान्त रूप में संक्षेप में कहा है।[1]

यद्यद्विभूतित्मसत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम् तेजोंऽशसंभवम्।।

जो–जो वस्तुएँ ऐश्वर्य, शोभा एवं प्राण से युक्त हों वह तब मेरे तेज के अंश में से ही उत्पन्न हुई हैं ऐसा समझ।[2]

ऐसा कहकर श्रीकृष्ण 'सबको भगवान समझ' ऐसा संकेत करते हैं।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।

विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत।।

अथवा हे अर्जुन ! ये सब जानने से तुझे क्या प्रयोजन है ? इस समग्र जगत में

---

1. **श्रीमद्भगवद् गीता अ० 10 श्लोक 40**
2. **श्रीमद्भगवद् गीता अ० 10 श्लोक 41**

अपने एक अंश से धारण कर रहा हूँ।[1] अर्थात् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अणु–अणु में प्रभु हैं ऐसा समझ। केवल उपयुक्तता से विभूतिमत्व समझ में नहीं आता।

उपयुक्तता के साथ जीवन में कृतज्ञता आनी चाहिए। कृतज्ञता के बाद आत्मीयता आनी चाहिए और अन्त में सृष्टि की ओर देखने की दृष्टि पूज्यता की होनी चाहिए।

श्रीकृष्ण ने इस सृष्टि के प्रति दृष्टिकोण कैसा होना चाहिए ?, इसका महत्व दसवें अध्याय में समझाया है जो निम्नलिखित है–

भोग–योग से ईश योग में जाना अर्थात् विभूति योग–

सृष्टि की ओर मूल्य (Plus Value) होना चाहिए और वह अर्थात् पूज्यभाव ! यदि यह भाव निर्माण नहीं हुआ तो मनुष्य की कितनी ही उन्नति की, पुलों का निर्माण किया, भवनों का निर्माण किया, शिक्षक नियुक्त किये, विद्यार्थियों को पुस्तकें और फीस दी यानी शिक्षा मिल गयी ऐसा नहीं होता। तो इसमें पूज्य बुद्धि निर्माण होनी चाहिए। उपयुक्त वस्तु की उपयोगिता के साथ–साथ उसके प्रति पूज्यभाव भी निर्माण होना चाहिए। यह विभूति योग ही प्रमुखता से पूज्य भाव बढ़ाने के लिए है। इस पूज्य भाव से ही मानव का सर्वांगीणत्व (Intergration) हो सकेगा।

सृष्टि के प्रति आत्मीयता और पूज्य भाव–

पुराने समय में ऋषि मुनियों ने इस सृष्टि की पुस्तक को पढ़ा और पढ़कर जीवन विकसित किया। उनको हिमालय जैसे उत्तुंग पर्वतों ने स्थैर्य, सागर ने गम्भीरता, आकाश ने व्यापकता, चन्द्र ने शीतलता और लता पल्लवों ने मार्दवता तथा कोमलता का ज्ञान

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 10 श्लोक 42

किया। निसर्ग एक महान शिक्षक है। मानवेतर सृष्टि का मानवों के साथ संबंध आता है। इसलिए हमारे यहाँ वृक्ष आदि का पूजन होता है। वृक्ष की पूजा उपयुक्तता की दृष्टि से नहीं की जाती। वृक्ष हमको फल–फूल देते हैं, छाया देते हैं, इसलिए उनकी पूजा नहीं की जाती। अपितु उनके प्रति होने वाली आत्मीयता की दृष्टि से उसकी पूजा होती है। जगत की ओर केवल उपयुक्ता की दृष्टि रखने से जीवन का विकास नहीं होता।

जीवन में कृतज्ञता, आत्मीयता व पूज्य भाव कैसे आये, यह आज की एक विकट समस्या है। लड़का पाठशाला में जाता है, पढ़ता है और शिक्षित बनता है परन्तु मनुष्य नहीं बनता। विपरीत इसके ऐसा लगता है कि उसकी मनुष्यता ही मिटती जा रही है। पूज्य भाव की भूमिका में चार बातें आती हैं–

1. आत्म गौरव (Reverence for Self)
2. मनुष्य गौरव (Reverence for Man)
3. प्राणी गौरव (Reverence for Animal)
4. सृष्टि गौरव (Reverence for all Creation)

भोग–योग से यदि विभूति योग की ओर जाना हो तो जीवन में भाव चाहिए। भोगवाद, व्यक्तिवाद नफावाद और वस्तुवाद ये चारवाद तो मनुष्य में स्वाभाविक रूप से हैं पाँचवां भावपाद पूज्यत्ववाद आया तो मानव जीवन सफल हुआ ऐसा कहते हैं। जीवन की ओर देखने का दृष्टिकोण मंगल व पवित्र होना यह आनन्द की बात है।

सृष्टि में मांगल्य दर्शन हुआ तो मंगलमूर्ति का दर्शन होता है–

जीवन में मंगल वस्तुओं को देखने की आदत होनी चाहिए। आज व्यक्ति केवल

दोष दर्शन के आदी हो गये हैं। प्रथम मंगल दर्शन (Good Seeing) फिर (God Seeing) परमात्मा दर्शन जीवन में आता है। कालेजों में (Fish Pond) की तरह (Pearl Pond) भी होने चाहिए। गुण और दोष दोनों को जो देखता है वह विद्वान कहलाता है। संस्कृत में विश्व गुणा–दर्शन चंपू नामक एक काव्य है। उसमें दो गंधर्वों का वर्णन है। वे दोनों विमान में बैठकर भारत के विविध प्रदेशों के ऊपर से जाते हैं। एक गंधर्व प्रदेशों के सद्गुणों का वर्णन करता हैं और दूसरा दुर्गुणों को बताते जाते हैं इस प्रकार हमारी गुणग्राही दृष्टि हो तो हमें इस बात का अनुभव होगा कि सर्वत्र मांगल्य ही है और सर्वत्र भगवान ही हैं–

अहमात्मा गुडाकेश–

हे अर्जुन ! तुझे एक बात कहता हूँ कि सम्पूर्ण विश्व में विभूति 'मैं' बैठा हूँ। समस्त संसार में विभूति है, व्यक्ति नहीं। तेरी आँखों में विभूति को समझने की जितनी शक्ति होगी, उतना ही जगत तुझे विभूतिमान लगेगा। यों तो 'मैं' सर्वत्र हूँ ही फिर भी तुझे यदि जानना ही हो तो कहता हूँ। ऐसा कहकर भगवान एक–एक विभूति समझाते हैं।

विभूति योग यानी सृष्टि के रत्नों का ज्ञान–

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने चराचर जगत की जड़ चेतन सभी की विभूतियाँ कही हैं केवल उपयुक्तता की दृष्टि से विभूतिमत्व ध्यान में नहीं आता है। उपयुक्तता के कारण नमस्कार किया तो वह स्वार्थ मूलक नमस्कार है।

उपयुक्तता के साथ–साथ जीवन में कृतज्ञता भी आनी चाहिए–

कृतज्ञता के पश्चात आत्मीयता और अन्त में सृष्टि के प्रति पूज्यभाव आना

चाहिए। इस पूज्यत्व की दृष्टि से ही मानव का समग्रत्व (Integration) हो सकेगा। समग्र दृष्टि के प्रति पूज्य भाव (Reverence for all Creation) यह गीता का तत्व ज्ञान है।

गीता में गीताकार कृष्ण ने इस सृष्टि के प्रति दृष्टिकोण का विवेचन दसवें अध्याय में किया है क्योंकि मानव का जैसा दृष्टिकोण होगा उसी के अनुसार वह सारी वस्तुओं को देखेगा। आज व्यक्ति की इस सृष्टि के प्रति उपयोगितावादी दृष्टि हो गयी है कोई भी वस्तु हमें कितनी मात्रा में उपयोगी है। उसी के अनुरूप वह सम्बन्ध रखता है और उसी के अनुसार वह उसी भाव से प्रभावित रहता है।

श्रीकृष्ण ने इस विश्व की तरफ दैवी दृष्टि से देखने का नजरिया दिया है। यदि आज हम उसका प्रयोग अपने शिक्षा जगत के प्रति विकसित करें तो काफी समस्याओं का हल मिल सकता है।

आज मानव का इस जगत के प्रति भोगवादी दृष्टि है। वह प्रत्येक वस्तु को भौतिक दृष्टि से देखना चाहता है और उसे उपयोगी मानकर उसका उपयोग करता है। आज शिक्षा के प्रति लोगों का दृष्टिकोण दैवी नहीं है भोगवादी है। व्यवहारिक जीवन में गीता जितना उपयोगी है उसे ही अनुसंधानकर्ता ने अपना विषय बनाया है।

श्रीकृष्ण ने योग अर्थात् कौशल्य दसवें अध्याय में विभूति योग को समझाया है। विभूति का तात्पर्य है ऐश्वर्य अथवा शोभा प्रकट करने का कौशल्य इसी का दूसरा नाम है विभूतियोग।

इस अध्याय में श्रीकृष्ण ने अपने मुख से ही अपनी विभूतियाँ समझायी हैं इन विभूतियों का शब्दार्थ नहीं परन्तु भावार्थ हृदयार्थ समझना चाहिए। यहाँ एक दूसरे के

साथ होने वाली बातें हैं यहाँ श्रीकृष्ण ने अर्जुन के समक्ष बड़े प्यार से अपना हृदय खोला है।

विभूति का महत्व, कौशल्य और शोभा समझने के लिए व्यक्ति के जीवन में नम्रता होनी चाहिए।

श्रीकृष्ण गीता के दसवें अध्याय में कहते हैं–"हे अर्जुन पूरे जगत में मैं बैठा हूँ। सारी सृष्टि विभूति ही है, व्यक्ति नहीं। तेरी आँख में जितना विभूतिमत्व होगा उतना ही जगत् विभूति से व्याप्त दिखेगा।" अतः मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ फिर भी तू यदि जानना चाहता है तो मैं कहता हूँ, ऐसा कहकर श्रीकृष्ण एक के बाद एक विभूति समझाते हैं और अन्त में कहते हैं–हे परतंप मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है, उनका विस्तार मैंने दृष्टान्त रूप से संक्षेप में कहा है।

जो–जो वस्तुऐं ऐश्वर्य, शोभा एवं प्राण से युक्त हों वह सब मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई हैं ऐसा समझ।[1]

आज के वर्तमान परिवेश में विभूतिमत्व की बहुत बड़ी उपयोगिता है। यदिहम शिक्षा जगत् में गीताकार की गायी गीता के विभूति को इस सृष्टि में देखेंगे तो हमारा जीवन दैवी होगा और तब शिक्षा जगत को एक नया प्रकाश मिल सकता है। इस दृष्टिकोण के माध्यम से विश्व में जो एक ही चेतन सत्ता है उसका हम दर्शन कर सकते हैं क्योंकि गीता में कहा गया है कि "विश्व आत्मरूप है और आत्मा विश्व रूप है।" आज के इस वैज्ञानिक युग में गीता के दर्शन की सभी को आवश्यकता है।

---

1. **गीता अ० 10 श्लोक–41**

यदि हम इस सृष्टि में ईश्वरीय सत्ता को देखेंगे तो हमारी बहुत सारी शैक्षिक एवं सामाजिक समस्याएं हल हो जाऐंगी और व्यक्ति में एक चेतन सत्ता का बोध होगा।

गीता में त्रिगुण (सत, रज, तम)–

गीता में श्रीकृष्ण ने त्रिगुण पर निम्नलिखित उपदेश दिये हैं–

हे अर्जुन ! सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बांधते हैं।[2]

हे निष्पाप ! उन तीनों गुणों में सत्व गुण तो निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला और विकार रहित है वह सुख के संबंध से और ज्ञान के संबंध से अर्थात् उसके अभिमान से बांधता है।[3]

हे अर्जुन ! राग रूप, रजोगुण को कामना और आसक्ति से उत्पन्न जान। वह इस जीवात्मा को कर्मों के और उनके फल के संबंध से बांधता है।[4]

हे पार्थ ! सब देहाभिमानियों को मोहित करने वाले तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न जान। वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधता है।[5]

---

1. [illegible]
2. **सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृति संभवाः।**
   निबंधन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्।। (गीता अ० 14 श्लोक–15)
3. **तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।**
   सुखसङ्गेन बंधाति ज्ञानसङ्गेन चा नघ।। (श्लोक–6)
4. **रजोरगात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।**
   तन्निबंधाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्। (श्लोक–7)
5. **तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहिनं सर्वदेहिनाम्।**
   प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबन्धति भारत।। (श्लोक–8)

हे अर्जुन ! सत्व गुण सुख में लगाता है और रजोगुण कर्म में तथा तमोगुण तो ज्ञान को ढककर प्रमाद में भी लगाता है।[1]

रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण वैसे ही सत्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण होता है अर्थात् बढ़ता है।[2]

जिस समय इस देह में तथा अन्तःकरण और इन्द्रियों में चेतनता और विवेकशक्ति उत्पन्न होती है उस समय ऐसा जानना चाहिए कि सत्वगुण बढ़ा है।[3]

रजोगुण के बढ़ने पर लोभ प्रवृत्ति, स्वार्थबुद्धि से कर्मों का सकामभाव से आरम्भ, अशान्ति और विषय भोगों की लालसा से सब उत्पन्न होते हैं।[4]

तमोगुण के बढ़ने पर अन्तःकरण और इन्द्रियों में अप्रकाश, कर्तव्य कर्मों में अप्रवृत्ति और प्रमाद अर्थात् व्यर्थ चेष्टा और निद्रादि अन्तःकरण की मोहिनी वृत्तियाँ ये सब ही उत्पन्न होते हैं।[5]

सत्व गुण में स्थित पुरुष स्वर्गादि उच्च लोकों में जाते हैं। रजोगुण में स्थित राजस पुरुष मध्य में अर्थात् मनुष्य लोग में ही रहते हैं और तमोगुण के कार्यरूप निद्रा,

---

1. **सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।**
   ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत।। (गीता अ० 14 श्लोक 9)
2. **रजस्तमश्चमिभूय्य सत्त्वं भवति भारत।**
   रजः सत्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।। (गीता अ० 14 श्लोक 10)
3. **सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते।**
   ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।। (गीता अ० 14 श्लोक 11)
4. **लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।**
   रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।। (श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय 14 श्लोक–92)
5. **अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।**
   तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।। (गीता अ० 14 श्लोक 13)

प्रमाद और आलस्यादि में स्थित तामस पुरुष अधोगति को अर्थात् कीट, पशु आदि नीच योनियों को तथा नरकों को प्राप्त होते हैं।[1]

गीता दर्शन वर्तमान परिवेश के लिए एक आदर्श है। आज शिक्षा जगत् में जो शिथिलता दृष्टिगोचर होती है उन सभी का समाधान गीता के उपदेश के माध्यम से हो सकता है। गीता इतनी मनोवैज्ञानिक एवं व्यावहारिक है कि इसके माध्यम से व्यक्ति की सारी समस्याओं का निदान हो सकता है।

गीता में गुणों के आधार पर व्यक्तियों के तीन वर्गों का उल्लेख है। जैसे—सतोगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी। इन तीनों प्रकार के व्यक्ति की सोच एवं दृष्टिकोण में अन्तर होता है। चूँकि प्रत्येक मनुष्य में तीनों गुण पाये जाते हैं लेकिन किसी व्यक्ति में सतोगुण की अधिकता होती है तो किसी में रजोगुण की एवं किसी में विशेष रूप से तमोगुण ज्यादा मात्रा में पाया जाता है।

गीता में सात्विक बनने के लिए विशेष आग्रह रखा गया है कि व्यक्ति में सात्विकता का निर्माण हो। सात्विक वृत्ति वाला व्यक्ति इस जगत के बारे में उसकी समस्या के बारे में आत्मीयता से सोच सकेगा। सात्विक वृत्ति बनानी पड़ेगी। आज जो शिक्षा जगत् में समस्याएँ खड़ी हो रही हैं उनका निदान हम सात्विक वृत्ति के साथ कर सकते हैं, क्योंकि गीता का स्पष्ट कहना है कि यह जगत एक चेतन सत्ता से बना हुआ है सभी प्राणियों में चर–अचर में एक ही आत्म तत्व है तो इस सृष्टि में सब कुछ दैवी है ऐसी दैवी दृष्टि विकसित करने की बात गीता करती है।

1. **उर्ध्व गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।**
   जघन्य गुण वृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।। (गीता अ० 14 श्लोक 18)

गीता का यह मुख्य संदेश है कि मनुष्य सात्विक बनें। गीता के अनुसार व्यक्तित्व तीन प्रकार का होता है सात्विक, राजस एवं तामस।

गीता के अनुसार तीन प्रकार के व्यक्तित्व हैं और उन्हीं तीन प्रकार के व्यक्ति में तीन प्रकार का भोजन एवं तीन प्रकार की श्रद्धा एवं तीन प्रकार का ज्ञान एवं तीन प्रकार की बुद्धि बतायी गयी है।

जो व्यक्ति सात्विक होगा उसका भोजन भी सात्विक, श्रद्धा भी सात्विक, ज्ञान भी सात्विक एवं बुद्धि भी सात्विक होगी। इसी प्रकार से रजोगुणी एवं तमोगुणी का भी होगा।

आज समस्त विश्व में जो दूरियाँ बन रही हैं। उनका निराकरण गीता के माध्यम से किया जा सकता है। शिक्षा जगत् में हम आमूल–चूल परिवर्तन गीता के विचारों से कर सकते हैं। आज प्रत्येक व्यक्ति को चाहे यह शैक्षिक जगत का व्यक्ति हो या सामाजिक जगत का सभी को सात्विक वृत्ति की आवश्यकता है। जब हम सभी मिलकर इस गीता के विचारों का पालन अपने व्यावहारिक जीवन में करेंगे तभी हम इस अँधेरे समाज को एक नया उजाला दे सकेंगे।

सात्विक वृत्ति के अभाव में ही मानव आज अनुशासनहीन हो गया है अपने कर्तव्य कर्मों को भुला दिया है और मात्र अधिकार का, हक की मांग कर रहा है। ऐसी परिस्थितियों में गीता ही एक नया प्रकाश बिखेर सकती है। विश्व के प्रत्येक मानव को वह अपने कर्तव्य कर्मों की शिक्षा दे सकती है।

शोधकर्ता ने गीता–दर्शन को उतना ही स्पर्श किया है जितना शिक्षा जगत् के लिए समीचीन है। क्योंकि गीता का प्रत्येक तत्व हमारे व्यावहारिक जीवन को कितना प्रेरित कर सकता है। हमारे शिक्षा जगत में वह कितनी मजबूती से तत्व निष्ठा खड़ी कर सकता है यही शोधकर्ता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

गीता में क्षर और अक्षर–

गीता दर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है। गीता में जो सिद्धान्त है वे शाश्वत हैं गीता में श्रीकृष्ण ने इस जगत् की व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। यह जगत् जीव कैसे बना, इसकी व्यापक चर्चा की है। यह जीव, जगत्, जगदीश से संचालित है ऐसा गीता का स्पष्ट मानना है। ऐसा संदेश वह समस्त विश्व के प्राणियों को देती है।

गीता एक शाश्वत सिद्धान्त की बात करती है।

इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं–उनमें सर्वभूत यानी यह जो शरीर है यह क्षर है यानी नाशवान है और सर्वभूतों में स्थित जो जीवात्मायें हैं वे अक्षर कही जाती हैं।

गीता इस जगत् की परिवर्तनशीलता को बताती है कि इस जगत् में क्या नष्ट होता है और क्या नहीं। वह कहती है कि समस्त भूत प्राणियों का जो यह बाह्य आकार है यह परिवर्तनशील है, नाशवान है, क्षर है लेकिन इस आकार को चलाने वाली सत्ता यानी परमात्मा अविनाशी है उसका नाश नहीं होता।

श्रीकृष्ण ने दो पुरुषों का वर्णन किया है–

क्षर और अक्षर–

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।[1]

श्रीकृष्ण कहते हैं कि इस लोक में क्षर और अक्षर ऐसे दो पुरुष हैं। उनमें सर्वभूत ये क्षर हैं और सर्वभूतों से स्थित जो जीवात्मायें हैं वे अक्षर कहे जाते हैं।

यदि पुरुषोत्तम होना है तो क्षर और अक्षर का भेद जानना चाहिए। यह क्षर सृष्टि नित्य नूतन है, हमेशा बदलती रहती है। वह साधन है यह साधन नित्य नूतन है, इसलिए तो वह आनन्दप्रद है। विश्व नष्ट होता है अतएव उसका आनन्द है, क्योंकि संसार में प्रत्येक वस्तु शाश्वत होती तो व्यक्ति ऊब जाते। मृत्यु है, इसलिए तो जीवन में आनन्द है। इस तरह सृष्टि की ओर देखने की दृष्टि बदल जाये तो अवश्य समझ आयेगा कि वह क्षर है इसीलिए उसमें आनन्द है। वह क्षर है इसलिए अक्षर ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह उत्कृष्ट साधन है।

यह क्षर सृष्टि भी एक पुरुष है और अक्षर भी एक पुरुष है। यह अक्षर पुरुष यानी जीवात्मा। क्षराक्षर की सहायता से पर को जान सकते हैं।

उत्तम पुरुष–फिर श्रीकृष्ण कहते हैं–

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः।।[2]

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 15 श्लोक–16
2. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 15 श्लोक–17

इन क्षर और अक्षर दोनों पुरुषों से उत्तम पुरुष तो अन्य ही है। वह परमात्मा कहा जाता है वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोक में प्रवेश करके सभी को धारण करता है और पोषण भी करता है। और अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं–

यस्मात क्षर मतीतोऽहम क्षरादपि चोत्तमः।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।[1]

मैं इस क्षर से पर हूँ और अक्षर से उत्तम हूँ इसलिए लोक में तथा वेदों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ।

क्षराक्षर की सहायता से क्षराक्षर से पर पुरुषोत्तम को जान सकते हैं। क्षर और अक्षर को सम्पूर्णतया जान लें तभी पुरुषोत्तम का ज्ञान हो सकता है।

क्षर–अक्षर हमारे शैक्षिक जगत में एक तत्वनिष्ठा खड़ा करता है कि मानव दैवी अंश है वह तुच्छ नहीं, वह लाचार नहीं, बल्कि वह एक चेतन का अंश है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का यह अध्याय मानव को अन्तर्मुखी एवं विवेकवान बनने की शिक्षा देता है तथा सृष्टि के असली स्वरूप का दर्शन कराता है।

तप के तीन प्रकार–

श्रीमद् भगवद् गीता के अनुसार जीवन विकास के तीन अंश हैं जिसका वर्णन श्रीकृष्ण ने गीता के सत्रहवें अध्याय के श्लोक संख्या 14, 15, 16 में किया है।

तप के तीन प्रकार–गीताकार शरीर संस्था के तत्व 'तप' के बारे में कहते हैं तप का अर्थ है सहन करना, घिसना। तप से मानव दिव्य बनता है। तप तीन प्रकार का

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 15 श्लोक–18

है—शारीरिक, वाचिक, मानसिक।

देव, ब्राह्मण गुरू एवं विद्वानों का पूजन पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा शारीरिक तप कहा जाता है।[1]

किसी को उद्वेग न करने वाली सत्य, प्रिय एवं हितकारी वाणी बोलना एवं स्वाध्याय का अभ्यास वाणी का तप कहा जाता है।[2]

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, आत्म संयम नियंत्रण एवं भावना की शुद्धि मन का तप कहा जाता है।[3]

इन तीन प्रकार के तप का आचरण करने से मानव अपना एवं अपने परिवार का जीवन दिव्य बना सकता है। शारीरिक तप करने से शरीर को कष्ट सहन करने की आदत पड़ती है तथा वह बराबर बलवान बनता जाता है वाचिक तप करने से वाणी में तेज आता है और मानव जो बोलता है वह करके भी दिखा सकता है।

मानसिक तप करने से मन लाचार नहीं बनता और उसमें हर तरह के आघात सहन करने की शक्ति आती है। इस प्रकार मनोदौर्बल्य चला जाता है।

अब इन तीनों तपों को शैक्षिक निहितार्थ की दृष्टि से देखें, जो अधोलिखित हैं—

शरीर—विद्यार्थियों को व्यायाम करना ही चाहिए। शरीर सुदृढ़ होना चाहिए।

---

1. **देवद्विज गुरू प्राज्ञ पूजनं शौचमार्जवम्।**
   ब्रह्मचर्य महिंसा च शारीरं तप उच्यते।। (अ० 17 श्लोक–14)
2. **अनुद्वेग करं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।**
   स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।। (गीता अ० 17 श्लोक–15)
3. **मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्म विनिग्रहः।**
   भावसंशुद्धि रित्येत्तपो मान समुच्यते।। (गीता अ० 17 श्लोक–16)

प्राचीन काल में तपोवन में नियमित रीति से विद्यार्थी सूर्य नमस्कार करते थे। आजकल के डाक्टर कहते हैं कि सूर्य नमस्कार करने से लाभ होता है। वास्तव में विद्यार्थियों को सूर्य नमस्कार करने ही चाहिए। तंदुरूस्त शरीर में ही तन्दुरूस्त मन रह सकता है। तपोवन में विद्याभ्यास उपासना की दृष्टि से किया जाता था। सूर्य नमस्कार से शरीर तो सुदृढ़ होता ही है, साथ ही साथ मन और बुद्धि का भी विकास होता है।

वाणी—अच्छे भक्तिपूर्ण गीतों से वाणी अलंकृत होती है। जीवन में दिव्यता आये ऐसा वाङ्मय पढ़कर उसके सतत् चिंतन और मनन से जीवन भी भव्य बनता है। तपोवन में जीवन भव्य और दिव्य बने ऐसा शिक्षण मिलता था। बुद्धि को खाद्य मिलना ही चाहिए। तेजस्वी विचार से मनुष्य तेजस्वी होता है। मनुष्य का जीवन विचारों से बदल सकता है। तेजस्वी वाङ्मय से मनुष्य का मन दृढ़ बने तभी तेजस्वी विचारों को जीवन में लाया जा सकता है। तपोवन में वैसे विचार मिलते थे।

वैदिक वाङ्मय सभी को पढ़ना चाहिए ऐसा पूर्वजो का आग्रह था। वैदिक वाङ्मय को योग्य अर्थ में न पढ़ने वाला जीवन में पराभूत होता है। जगत् से ऊबे हुए, बूढ़े बने हुए लोगों का दृष्टिकोण लेकर वैदिक वाङ्मय पढ़ेंगे तो उसका कोई अर्थ नहीं है।

आज कॉलेजों में संस्कृत पढ़ायी जाती है परन्तु उसमें केवल श्रृंगार काव्य जैसे ऋतु संहार, मेघदूतं आदि पढ़ाए जाते हैं। विद्यार्थियों के जीवन में खून दौड़े ऐसा वाङ्मय सिखाना चाहिए। गीता, रामायण उपनिषद जैसे ग्रन्थों को जो जीवन को निष्ठा देने वाले और तेजस्वी बनाने वाले हैं पढ़ाया जाना चाहिए। जिससे शिक्षा जगत् को एक नया प्रकाश एवं सही दिशा मिल सके।

मन–दूसरे के साथ रहना आना चाहिए। समाज में कुटुम्ब में किस प्रकार रहना है यह विद्यार्थी को सीखना चाहिए, आज कॉलेजों में यह बात नहीं सिखायी जाती है। इसलिए ग्रेज्युएट बने विद्यार्थी को भी माँ–बाप के साथ कैसे बर्ताव करना चाहिए इसका उन्हें ज्ञान नहीं होता, विद्यार्थी और शिक्षक भी सम्मिलित जीवन नहीं जीते।

सच्चा शिक्षण उसे कहते हैं जिसमें वाणी, शरीर और मन का शिक्षण मिलता है। आज के वर्तमान परिवेश में गीता के अनुसार विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जिसके कारण उनका मानसिक शारीरिक एवं वाचिक विकास हो सके।

दैवी और आसुरी सम्पदा–

मनुष्यों की प्रकृति दैवी, आसुरी तथा राक्षसी इन भेदों के कारण तीन प्रकार की है गीता के सोलहवें अध्याय में केवल दो प्रकार की प्रकृति का वर्णन किया गया है। जैसे–दैवी एवं आसुरी तथा राक्षसी।

आसुरी तथा दैवी प्रकृति का विचार सिर्फ गीता में या संस्कृत वाङ्मय में ही नहीं पाया जाता, संसार की इन दो परस्पर विरोधी [illegible] [illegible] विचार विश्व के हर धर्म में पाया जाता है। इसी को संस्कृत साहित्य में देवासुर संग्राम नाम से कहा है। इसी को बाइबल तथा कुरान में खुदा और शैतान के नाम से कहा है। विचार सब जगह एक ही हैं और वह यह कि मानव जीवन में दैवी तथा आसुरी–ये दो विरोधी प्रकृतियों का वर्णन करते हुए गीता पहले दैवी प्रकृति का वर्णन करती है–दैवी प्रकृति कैसी होती है–तो श्रीकृष्ण दैवी सम्पदा का वर्णन करते हैं–भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्वज्ञान के लिए ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्विक दान, इन्द्रियों

का दमन, भगवान देवता और गुरुजनों की पूजा तथा अग्निहोत्र आदि उत्तम कर्मों का आचरण एवं वेदशास्त्रों का पठन–पाठन तथा ईश्वर के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहन और शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता।[1]

मन, वाणी और शरीर से किसी प्रकार का किसी को कष्ट न देना, यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने वाले पर भी क्रोध का न होना, अन्तःकरण की उपरति अर्थात् चित्त की चंचलता का अभाव, किसी की भी निन्दादि न करना, सब भूत प्राणियों में हेतु रहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी उनमें आसक्ति न होना, कोमलता लोक और शास्त्र से विरुद्ध आचरण में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव है।[2]

तेज, क्षमा, धैर्य बाहर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव–ये सब तो हे अर्जुन दैवी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।[3]

फिर आसुरी सम्पदा के लक्षण बताया कि–हे पार्थ ! दम्भ, घमण्ड और अभिमान तथा क्रोध, कठोरता और अज्ञान भी ये सब आसुरी सम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरुष के लक्षण हैं।[4]

1. **अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञानयोग व्यवस्थितिः।**
   दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।। (गीता अ० 16 श्लोक–1)
2. **अहिंसा सत्यमक्रोध स्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।**
   दया भूतेषलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।। (श्लोक–2)
3. **तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहोनाति मानिता।**
   भवन्ति संपदं दैवीममिजातस्य भारत।। (श्लोक–3)
4. **दम्भो दर्पोमिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।**
   अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ संपदमासुरीम्।। (श्लोक–4)

गीता ने व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में दिखायी दे रहे दो प्रकार के आधारभूत विचारों की तरफ संकेत कियाहै। सद्गुण, दैवी सम्पदा, मानव की उच्च प्रकृति एक तरफ है दुर्गुण, आसुरी सम्पदा मानव की बुरी प्रकृति दूसरी तरफ हैं।

आज व्यक्ति को देखें, समाज को देखें, राष्ट्र को देखें,। सब जगह इन दो प्रकृतियों का मुकाबला है। मानव के व्यक्तिगत जीवन में भय, मलिनता, अज्ञान, दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध उसे असुर बनाये रखते हैं। इन सबसे लड़कर उसे निर्भय, शुद्ध ज्ञानी, नम्र प्रेममय होना है यही दिव्य गुण है। इन्हीं को पाकर वह ईश्वरीय राह पर चल सकता है।

समाज भी सदा इन दुर्गुणों से आक्रान्त रहता है। व्यक्ति भयभीत जीवन व्यतीत करने लगे तो समाज स्वयं भयभीत रहने लगाता है। बुरा समाज, अशिक्षितों का समाज, अभिमान में दूसरों से अपने को ऊँचा और दूसरों को नीचा समझने वाला समाज सर्वत्र विश्व में पाया जाता है। इन सामाजिक दुर्गुणों को दूर करना और सम्पूर्ण विश्व में एकता का सूत्रपात करना ही सामाजिक दृष्टि से दैवी सम्पदा है। ऐसा श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है।

वर्णव्यवस्था–

गीता में श्रीकृष्ण ने वर्णव्यवस्था पर प्रकाश डाला है। गीताकार ने कहा है कि–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।।[1]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–इन चार वर्णों का समूह गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है।

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ. 4, श्लोक–13

गीता में मानवीय स्वभाव अथवा कर्म की विशेषताओं के आधार पर समाज में वर्णव्यवस्था का शैक्षिक उपदेश मिलता है। यह उपदेश जन्म के आधार पर वर्णव्यवस्था का परिचायक नहीं है। वर्णव्यवस्था में समाज को उनके कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के रूप में विभाजित किया है। गीता का कथन है कि सभी प्रवृत्तियाँ, सभी व्यक्तियों में हो सकती है। सात्विक, राजसिक तथा तामसिक प्रवृत्तियाँ सभी में मिलती हैं। ब्राह्मण का अर्थ जो ज्ञान वृद्धि कर अंधकार दूर करे, क्षत्रिय का अर्थ जो समाज की रक्षा करे, वैश्य का अर्थ जो समाज की अर्थव्यवस्था को कृषि अथवा वाणिज्य के आधार पर शक्तिशाली बनाये तथा शूद्र जो समाज की व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने में अर्थात् सेवाओं का योगदान दे। वास्तव में देखा जाये तो वर्तमान समय में हर शिक्षक ब्राह्मण है जो वेद तथा विज्ञान अध्ययन, पठन–पाठन तथा अध्यापन से समाज का अंधकार दूर कर प्रकाश फैलाता है। प्रत्येक सैनिक क्षत्रिय है जो सीमा पर अपनी जान निछावर कर देश की रक्षा की चौकसी करता है। प्रत्येक किसान तथा व्यापारी अथवा उद्योगपति या उद्योग में कर्मचारी वैश्य है जो देश को उत्पादन देकर अर्थव्यवस्था में सुधार लाने का भरसक प्रयत्न करता है तथा प्रत्येक शूद्र है जो देश को अपनी सेवाओं से उसके विकास में योगदान देता है। कोई भी व्यक्ति अपने स्वभाव तथा समाज में कर्म के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र हो सकता है। उसी प्रकार जैसे कोई भी व्यक्ति सतोगुणी, रजोगुणी तथा तमोगुणी हो सकता है। मानव जीवन में लम्बे समय के आधार पर उन तीनों अवस्थाओं में भी परिवर्तन सम्भव है। सार्वजनिक सेवाओं में जैसे कर्म के आधार पर तथा सेवाओं के स्तर के आधार पर पद तथा वेतन में उच्च स्तर से निम्न स्तर

तक विभिन्नताएँ मिलती हैं, ठीक उसी प्रकार समाज में वर्णव्यवस्था की शैक्षिक विचारधारा गीता ने दी है। शूद्र शब्द को ईर्ष्या एवं नकारात्मक भाव में न लेकर समाज सेवक भाव में ही लेना चाहिए। वैसे कर्म तथा सेवाओं के आधार पर सामाजिक पदानुक्रम को व्यवस्था से अलग नहीं किया जा सकता है। अतः इसे सामाजिक बुराई के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए। हर व्यक्ति अपने आप में विशेष है परन्तु क्षमता तथा कर्म के आधार पर पदानुक्रम को जन्म देता है। इस पदानुक्रम का आधार जन्म या जाति से नहीं, कर्म से किया जाना चाहिए। जन्म को आधार बनाना ही सामाजिक बुराई है। समाज में व्याप्त ऐसे प्रदूषित भावों को देश के उत्थान हेतु समूल नष्ट करना होगा क्योंकि इस प्रकार के जन्म या जाति प्रथा के आधार पर वर्गीकरण, विवेकपूर्वक नहीं होते। गीता में जो चार पदीय वर्णव्यवस्था बताई है उसके पीछे जाति या जन्म के आधार पर समाज को वर्गों में नहीं बांटा है। अपितु स्वभाव तथा कर्म के आधार पर वर्गीकृत किया है।

वर्णव्यवस्था में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों की जो विशेषताएँ स्वभाव तथा कर्म के आधार पर बताई हैं वह अधोलिखित है—

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभावैर्गुणैः।।[1]

हे परंतप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के तथा शूद्रों के कर्म स्वभाव से उत्पन्न गुणों द्वारा विभक्त किये गये हैं।

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ. 18, श्लोक—41

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।

ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।[1]

अन्तःकरण का निग्रहः करना, इन्द्रियों का दमन करना, धर्मपालन के लिए कष्ट सहना, बाहर–भीतर से शुद्ध रहना, दूसरों के अपराधों को क्षमा करना, मन इन्द्रिय और शरीर को सरल रखना, वेद, शास्त्र, ईश्वर और परलोक आदि में श्रद्धा रखना, वेद–शास्त्रों का अध्ययन–अध्यापन करना और परमात्मा के तत्व का अनुभव करना–ये सबके सब ही ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।[2]

शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता और युद्ध में न भागना, दान देना और स्वामिभाव–ये सबके सब ही क्षत्रिय के स्वाभाविक कर्म हैं।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।

परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।[3]

खेती, गोपालन और क्रय–विक्रयरूप सत्य व्यवहार ये वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा वर्णों की सेवा करना शूद्र का भी स्वाभाविक कर्म है।

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ. 18, श्लोक–42
2. श्रीमद्भगवद् गीता अ. 18, श्लोक–43
3. श्रीमद्भगवद् गीता अ. 18, श्लोक–44

गीता में निष्काम कर्मयोग–

कर्म मनुष्य की उन्नति का मूल है। कर्म से ही मनुष्य अपना, देश का और दीनों का दुःख दूर कर सबको सुखी बना सकता है। अतएव किसी भी दूसरे पर कुछ भी भरोसा नहीं करके मनुष्य को निरन्तर कर्म में ही लगे रहना चाहिए।

जगत का सारा दुःख केवल कर्म से ही दूर हो सकता है। अतएव सबको सुख मिले एवं हर व्यक्ति का जीवन सुखमय बने इसके लिए कर्म करने की आवश्यकता है।

इस कर्तव्य के पालन में विविध कर्मों के नानाविध स्वरूप बन गये; श्रीमद् भगवद् गीता में निष्काम कर्मयोग का प्रतिपादन किया गया है। हमारे देश भारत में पहले कर्मकांड का बोलबाला था यज्ञों द्वारा सब मनोरथ पूर्ण होते हैं गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कि कर्म योग से हमारा अभिप्राय इस कर्मकांड से नहीं है, कर्मयोग कर्मकाण्ड से भिन्न है, जो व्यक्ति कर्मकांड की बात करते हैं स्वर्ग जाने की कर्म करके उसके फल भोगने की, ये लोग भोग तथा ऐश्वर्य में फँसे हुए हैं हे अर्जुन ! तू भोगवाद की इस बुद्धि से अपनी समस्या का समाधान नहीं कर सकता। गीता का कहना है कि मानव के जीवन की समस्या कर्मकाण्ड से, भोगवाद से, फल भोगने की कामना से हल नहीं हो सकती। तो फिर मानव के जीवन की समस्या कैसे हल होगी ? इसका उत्तर गीता ने यह दिया है कि इस समस्या का हल 'कर्मयोग' है कर्मयोग का वर्णन गीता में 39 से 53 श्लोक में किया गया है। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं–

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां शृणु।

बुद्धया युक्ता यया पार्थ कर्म बन्धं प्रहास्यसि।।

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिए ज्ञान योग के विषय में कही गयी और अब तू इसको कर्मयोग के विषय में सुन जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन को भली–भाँति त्याग देगा अर्थात् सर्वथा नष्ट कर डालेगा।[1]

इस कर्मयोग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है बल्कि इस कर्मयोग रूप धर्म का थोड़ा–सा साधन जन्म मृत्यु रूप महान भय से रक्षा कर लेता है।[2]

हे अर्जुन ! इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है किन्तु अस्थिर विचार वाले विवेकहीन सकाम मनुष्यों की बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदों वाली और अनन्त होती है।[3]

फिर श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन ! जो भोगों में तन्मय हो रहे हैं जो कर्म फल के प्रशंसक वेद वाक्यों में ही प्रीति रखते हैं जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्ग से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है ऐसा कहने वाले हैं वे अविवेकीजन इस प्रकार की जिस पुष्पित अर्थात दिखाऊ शोभा युक्त वाणी को कहा करते हैं, जो कि जन्म रूप कर्मफल देने वाली एवं भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार से बहुत सी क्रियाओं का वर्णन करने वाली है उस वाणी द्वारा जिनका चित्त

---

1. **श्रीमद् भगवद् गीता** (अ० 2 श्लोक 39)
2. **नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।**
   स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 40)
3. **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।**
   बहु शाखा हानन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 41)

हर लिया गया है जो भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं उन पुरुषों की परमात्मा में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।[1–2]

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकार से तीनों गुणों के कार्यरूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं। इसलिए तू उन भोगों एवं उनके साधनों से आसक्तिहीन हर्ष–शोकादि द्वन्दों से रहित, नित्य वस्तु परमात्मा में स्थित, योग क्षेम को न चाहने वाला और स्वाधीन अन्तःकरण वाला हो।[3]

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है ब्रह्म को तत्व से जानने वाले ब्राह्मण का समस्त वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है।[4]

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं–

कर्मण्येवाधि कारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूमा ते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि।।
योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्ग व्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

---

1. यामिनां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्य विपश्चितः।
   वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।। (श्रीमद् भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 42)
2. कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्म फल प्रदाम।
   क्रिया विशेष बहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।। (श्रीमद् भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 43)
3. त्रैगुण्य विषया वेदा निःस्त्रैगुण्यो भवार्जन।
   निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वास्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्। (श्रीमद् भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 45)
4. यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
   तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है उसके फलों में कभी नहीं। इसलिये तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।[1]

हे धनञ्जय ! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्य कर्मों को कर समत्व ही योग कहलाता है।[2]

इस समत्व रूप बुद्धि योग से सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है। इसलिए हे धनञ्जय ! तू समत्व बुद्धि में ही रक्षा का उपाय ढूंढ अर्थात् बुद्धियोग का ही आश्रय ग्रहण कर क्योंकि फल के हेतु बनने वाले अत्यन्त हीन हैं।[3]

निष्काम कर्मयोग का वर्णन करते हुए गीता में श्रीकृष्ण फिर कहते हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।[4]
कर्मज बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्य नामयम्।।[5]
यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिण्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्यच।।[6]

---

1. श्रीमदभगवद् गीता अ० 2 श्लोक 47
2. श्रीमदभगवद् गीता अ० 2 श्लोक 48
3. दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
   बुद्धो शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।। (श्रीमद् भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 49)
4. श्रीमदभगवद् गीता अ० 2 श्लोक 50
5. श्रीमदभगवद् गीता अ० 2 श्लोक 51
6. श्रीमदभगवद् गीता अ० 2 श्लोक 52

श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।[3]

सम बुद्धि युक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है इससे तू समत्व रुप योग में लग जा यह समत्वरुप योग ही कर्मो में कुशलता है अर्थात् कर्मबन्धन से छूटने का उपाय है।

क्योंकि समबुद्धि से युक्त ज्ञानी जन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्मरूप बन्धन से मुक्त हो निर्विकार परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

जिस काल में तेरी बुद्धि मोहरूप दल–दल को भली-भाँति पार कर जायेगी उस समय तू सुने हुए और सुनने में आने वाले इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जायेगा।

भाँति–भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुयी तेरी बुद्धि जब परमात्मा में अचल और स्थिर ठहर जायेगी तब तू योग को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् परमात्मा से नित्य संयोग हो जायेगा।

गीता की परिभाषा में 'कर्मयोग' का अर्थ सिर्फ काम करते जाना नहीं है 'कर्म योग' गीता का अपना ही गढ़ा हुआ शब्द है, विश्व के चिंतक को यह गीता की अपनी ही देन है। 'कर्म योग' की इसी देन के कारण गीता आज भी विश्व को वैसा ही नवीन संदेश दे रही है जैसा नवीन संदेश इसने कुरुक्षेत्र की रणभूमि में हथियार फेंककर निराश खड़े हुए अर्जुन को दिया था। जीवन में रणक्षेत्र में खड़ा हुआ प्रत्येक व्यक्ति

1. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 53

अर्जुन है प्रत्येक के सम्मुख जीवन की कठोर विषम परिस्थितियाँ उठ खड़ी होती है। हम में से प्रत्येक इन विषय परिस्थितियों में अपने हथियार फेंककर निराश का करुन क्रन्दन करने लगता है। गीता के 'कर्मयोग' ने गांडीव फेंककर निराशा का करुण क्रन्दन करने लगता है। गीता के 'कर्मयोग' ने गांडीव फेंककर पलायन करने वाले अर्जुन को 'कर्मयोग' का उपदेश देकर फिर से रणभूमि में ला खड़ा किया था, वही कर्मयोग का उपदेश हमें भी निराशा से आशा के जगत में लाकर खड़ा कर सकता है। कर्मयोग जिसने निराश हृदय में आशा का संचार किया, जिसने निर्बल को सबल, भयग्रस्त को साहसी, कर्म सन्यासी को कर्मयोगी बना दिया है।

निष्काम कर्मयोग का अर्थ फल में आसक्ति का त्याग है :– कर्म के विषय में तीन विचार हो सकते हैं :

1. फल का त्याग करना हो तो कर्म ही क्यों करें ?
2. कर्म करो और फल पर अपना अधिकार समझो ?
3. कर्म करो और परन्तु फल पर अपना अधिकार मत समझो ?

इनमें से पहला दृष्टिकोण तमोगुणी है दूसरा रजोगुणी है तीसरा सत्वगुणी है। तमोगुणी कहता है कि फल मिलेगा तो कर्म करुँगा नहीं तो कर्म ही नहीं करुँगा, रजोगुणी कहता है कर्म तो अवश्य करुँगा, परन्तु फल पर अपना अधिकार जरुर रखूँगा, सत्वगुणी कहता है कि कर्म करुँगा, परन्तु फल पर अपना अधिकार नहीं रखूँगा। सत्वगुणी व्यक्ति का दृष्टिकोण ही कर्मयोग का दृष्टिकोण है इसमें पहली दोनों दृष्टियों का समन्वय हो जाता है इसमें तमोगुणी की तरह कर्म छोड़ा भी नहीं जाता, रजोगुणी

की तरह फल पर अधिकार रखा भी नहीं जाता। कर्मयोग के इसी मार्ग को 'निष्काम–कर्म' कहते हैं।

गीताकार कहते हैं कि अगर फल के प्रति आसक्ति छोड़ दी जाय तो मनुष्य को सुख–दुःख दोनों नहीं होंगे, वह समभाव से रह सकेगा। हमें दुःख तभी होता है जब हमें अपने कर्म का फल नहीं मिलता। जब हमने 'फल' के प्रति आसक्ति ही छोड़ दी, तब दुःख किस बात का होगा।

इस स्थल पर दो प्रश्न उठ खड़े होते हैं पहला प्रश्न तो यह है कि जब हमें फल के प्रति आसक्ति नहीं होगी, तब हम कर्म क्यों करेंगे ? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या फल के प्रति आसक्ति छोड़कर कर्म करना सम्भव भी है या सिर्फ कहने की बात है।

गीताकार का कहना है कि बुद्धिमान व्यक्ति को फल के प्रति आसक्ति छोड़कर ही कर्म करना होगा। क्या हम देखते नहीं कि कर्म करना हमारे हाथ में है फल हमारे हाथ में है ही नहीं। हम खेती करते हैं यह हमारे हाथ में, परन्तु क्या खेती का फल भी हमारे हाथ में है ? बीज घुन जाता है वर्षा के न होने से खेती सूख जाती है, ओले पड़ने से हरे–भरे खेत नष्ट हो जाते हैं, जानवर खेती को तबाह कर देते हैं फल हमारे हाथ में कहाँ है ? हमारे हाथ में तो है केवल कर्म करना, फल हमारे हाथ में जब है ही नहीं तब हम फल के प्रति आसक्ति पर अपनी शक्ति का अपव्यय क्यों करें ? गीता हमें यथार्थ स्थिति को स्वीकार करने के लिये प्रेरित करती है।

यथार्थ स्थिति यह है कि 'कर्म करना हमारे हाथ में है' 'फल' हमारे हाथ में नहीं है। जो वस्तु हमारे हाथ में नहीं, हमारे बस की नहीं उसके लिए नाहक सिर क्यों

फटकना ? गीता का कहना है कि कर्म करते हुए फल पर अधिकार न रखना ही जीवन के प्रति 'यथार्थ दृष्टि' (Realistic Outlook) है क्योंकि हम भले ही फल चाहते रहें पर उस पर हमारा अधिकार नहीं है।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या फल ही आसक्ति को छोड़कर कर्म करना सम्भव भी है ? हम जब भी कोई कर्म करते हैं फल पहले ही मन में बैठा होता है। गीता का कहना है कि फल ही आसक्ति मन में बैठी तो होती है परन्तु उसे मन में बैठे नहीं होना चाहिए। क्योंकि फल हमारे हाथ में नहीं है। मन में ऐसी अनासक्ति की अवस्था ले आना सम्भव है उदाहरण के लिए, डाक्टर मरीज को चंगा करने के लिए दवा देता है परन्तु मरीज मर जाता है। मरीज के सगे संबंधी उसके लिए रोते हैं डाक्टर तो नहीं रोता। क्यों नहीं रोता ? क्योंकि मरीज के चंगा होने के लिए दवा देने का कर्म तो उसने किया था, परन्तु फल में उसकी आसक्ति नहीं थी। अगर डाक्टर का अपना लड़का मरीज होता वह मर जाता तो डाक्टर सिर पीट लेता। ऐसा वह क्यों करता ? क्योंकि अपने लड़के को जब वह दवा देता है तब फल में उसकी आसक्ति होती है अगर दूसरे को दवा देते समय डाक्टर निष्काम भाव से कर्म कर सकता है उसे दवा देते हुए कर्म फल की आसक्ति नहीं सताती तो इसका यह अर्थ तो है कि आसक्ति से कर्म करना संभव है। जो वृत्ति डाक्टर अन्य मरीजों के साथ अपनाता है उसे अपने लड़के के साथ भी अपना सकता है इसी निस्संगता, निष्कामता को जीवन में स्थिर बना लेना निष्काम कर्म योग है।

'निष्काम कर्म' योग का यह अर्थ तो है कि हम फल के प्रति अनासक्त रहें इसका यह अर्थ नहीं है कि हम फल की आशा ही न करें या यह समझने लगें कि फल होगा

ही नहीं। यह कैसे हो सकता है कि हम कर्म करें और फल की आशा न करें ? यह तो कार्य कारण के नियम पर कुठाराघात होगा। 'कर्म' करने के बाद 'फल' की आशा तो करनी होगी परन्तु फल पर अधिकार नहीं करना होगा उस पर 'आसक्ति' नहीं रखनी होगी, उसके लिए मन में 'लगाव' नहीं रखना होगा। 'कर्मयोग' का अर्थ कर्म के फल की आशा का त्याग नहीं अपितु कर्म के फल पर अधिकार का, आसक्ति का, लगाव का त्याग है। जब मनुष्य कर्मफल पर अपना अधिकार समझने लगता है यह समझता है कि मैंने कर्म किया तो मुझे फल अवश्य मिलना चाहिए तभी सब झगड़े जंजाल संसार के दुःख उड़ खड़े होते हैं। जब वह कर्मफल को अपना अधिकार न समझकर जो कुछ फल मिलता है उसे भगवान को अर्पण कर देता है, कर्मफल में आसक्ति नहीं रखता, तब वह सुख–दुःख की चपेट से बाहर निकल जाता है।

सकाम व्यक्ति की दृष्टि सदा फल की तरफ होती है निष्काम व्यक्ति की दृष्टि सदा कर्म की तरफ होती है। असली वस्तु तो कर्म है। 'कर्म' जितनी तन्मयता से किया जायेगा उतना ही तो 'फल' भरपूर होगा। क्योंकि सकाम व्यक्ति की दृष्टि दो बातों पर रहती है इसलिए उसमें 'कर्म' के प्रति उतनी तन्मयता नहीं रह सकती जितनी निष्काम व्यक्ति की रह सकती है क्योंकि उसके ध्यान का केन्द्र तो सिर्फ कर्म होता है। निष्काम व्यक्ति कभी स्वार्थ दृष्टि से नहीं देखता क्योंकि उसकी फल में आसक्ति नहीं होती इसलिए उसके कर्म में दूसरे का अहित नहीं होता। निष्काम कर्मयोगी फलासक्त नहीं होता इसलिए सिद्धि–असिद्धि में वह सम रहता है फल मिलने पर वह आपे से बाहर नहीं

हो जाता, फल न मिलने पर वह दुःख नहीं होता। गीता का कहना है कि 'निष्कामता' अव्यावहारिक नहीं अपितु एक व्यावहारिक तथ्य है।

फल की इच्छा रखकर कर्म करने पर कितने ही बार अपनी इच्छानुसार फल नहीं मिला तो दुःख होता है, जीवन में नैराश्य आता है। कर्म में मन लगाने का नाम है कर्मयोग। कर्म का विचार अति गहन है। कर्म में तीन भाग हैं हेतु, क्रिया और फल। कोई भी कर्म किया गया तो उसके पीछे हेतु होता है हेतु के बिना कर्म नहीं होता उसी प्रकार किसी भी इन्द्रिय की क्रिया बिना कर्म के नहीं होती। बिना हेतु कर्म पागल मनुष्य का होता हैं क्रिया बिना कर्म नहीं होता। हेतु और क्रिया को त्याग नहीं सकते। परन्तु फल को त्याग सकते हैं। कर्म में हेतु और क्रिया का योग्य विचार होगा तो कर्म सुन्दर बनेगा। हेतु और कर्म के विचार में फल का विचार घुसने पर गति कम हो जाती है, कर्म की एकाग्रता नष्ट हो जाती है।

4.2. जीव की अनश्वरता और पुनर्जन्म-

गीता भी अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह पुनर्जन्म को मानती है। पुनर्जन्म का तात्पर्य है– 'आत्मा नामक सत्ता का अमर होना और वह शाश्वत तत्व मनुष्य के कर्मानुसार विभिन्न शरीरों एवं प्रकृति से उत्पन्न होता है। यह विषय देखने में तात्विक लगता है परन्तु कर्म के सापेक्ष में इसमें निहित नैतिक विचारणा भी प्रासंगिक हो जाता है।

जिस प्रकार देह धारण करने वाले को इस देह में बालकपन, जवानी और बुढ़ापा

प्राप्त होता है उसी प्रकार दूसरी देह आगे भी प्राप्त हुआ करती है। इस विषय में ज्ञानी पुरुषों को मोह नहीं होता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नए वस्त्र ग्रहण करता है उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर का स्वामी आत्मा पुराने शरीर त्याग कर दूसरे नए शरीर धारण करता है।

वासांसि जीर्णानि तथा विहाय नवानि गृहणातिनरोपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीणन्यिन्यानि संयति नवानि देही।।[1]

इसी प्रकार से फिर श्रीकृष्ण कहते हैं–

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तब चार्जुन।

तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।[2]

श्रीकृष्ण बोले– हे परंतप अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सब को तू नहीं जानता, किन्तु मैं जानता हूँ।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।

शुचीना श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।[3]

योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवानों के लोगों को अर्थात् स्वर्गादि उत्तम लोकों को प्राप्त होकर उनमें बहुत वर्षो तक निवास करके फिर शुद्ध आचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है।

---

1. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 22
2. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 4 श्लोक 5
3. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 6 श्लोक 41

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।

अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।[1]

परन्तु प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करने वाला योगी तो पिछले अनेक जन्मों के संस्कार बल से इसी जन्म में संसिद्ध होकर सम्पूर्ण पापों से रहित हो फिर तत्काल ही परमगति को प्राप्त हो जाता है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालय मशाश्वतम्।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।[2]

परम सिद्ध को प्राप्त महात्माजन मुझको प्राप्त होकर दुःखों के घर एवं क्षणभंगुर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते है।

अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्यु संसार वर्त्मनि।।[3]

हे परंतप ! इस उपर्युक्त धर्म में श्रद्धा रहित पुरुष मुझको न प्राप्त होकर मृत्यु रुप संसार चक्र में भ्रमण करते रहते हैं।

गीताकार ने उपर्युक्त श्लोकों में पुनर्जन्म की बात की है।

यह जीव जड़ में लीन होगा क्या ? जीव जड़ में लीन नहीं होगा क्योंकि वह चेतन है। उसी प्रकार जीव चेतन में लीन नहीं होगा कारण उसमें जड़ांश है। जीव में

---

1. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 6 श्लोक 45
2. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 8 श्लोक 15
3. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 9 श्लोक 3

जड़ांश चिपक कर बैठा रहने के कारण वह चेतन में विलीन नहीं हो सकता वैसे ही जीवन में जड़ांश होने के कारण वह पवित्र नहीं है। उसे आत्मज्ञान नहीं हुआ है ? इससे वह चेतन में विलीन नहीं हो सकता। तो फिर जीव कहाँ जाता है ? अतः जीव की कोई दूसरी गति होनी चाहिए। इस दृष्टि से देखा तो पुनर्जन्म होना ही चाहिए। ऐसा गीताकार का गीता में कहना है।

पुनर्जन्म निसर्ग का अटल नियम है। कुछ लोग कहते हैं कि इस विश्व में बहुसंख्यक लोग पुनर्जन्म को नहीं मानते, इसलिए पुनर्जन्म नहीं होगा। न्यूटन के जन्म के पहले सम्पूर्ण लोग गुरुत्वाकर्षण के नियम को नहीं मानते थे। इसका अर्थ उस समय क्या गुरुत्वाकर्षण का नियम नहीं था। गुरुत्वाकर्षण का नियम निसर्ग का नियम है और उसको मानव जाति माने या न माने वह रहेगा ही। उसी प्रकार पुनर्जन्म यह निसर्ग का नियम है। इसी कारण इस सृष्टि में कुछ लोग धनवान दिखाई देते है और कुछ गरीब दिखाई पड़ते हैं। अन्यथा इसका कारण क्या है ? कुछ लोग तर्क देते हैं कि इसके लिए परिस्थिति कारण है। परन्तु परिस्थिति समान होते हुए मनुष्य समान नहीं रह सकते। जिस देश में परिस्थिति समान है उस देश में भी एक प्रेसीडेंट बनता है और दूसरा झाड़ू लगाने वाला बनता है। एक जीव प्रेसीडेंट के यहाँ जन्म लेता है और दूसरा झाड़ू लगाने वाले के यहाँ जन्म लेता है इसका अर्थ यह है कि परिस्थिति के कारण कोई धनवान अथवा गरीब नहीं बनता। कुछ लोग तर्क देते हैं कि परिस्थिति समान होते हुए भी ढोंगी मनुष्य को अधिक पैसा प्राप्त होता है परन्तु ढोंगी मनुष्य में यह अनैतिकता कहाँ से आयी? इस प्रश्न का उत्तर है क्या ? इसलिए पुनर्जन्म को मानना ही चाहिए। यह बुद्धि

का विषय नहीं है अपितु निसर्ग का सिद्धांत है। पुनर्जन्म अटल बात है। ऐसा गीता मानती है।

पुनर्जन्म शास्त्रीय सिद्धांन्त है अन्य धर्म भी पुनर्जन्म को मानते हैं। मरने के बाद कब्र में जीव पड़ा रहता है ऐसा इस्लाम धर्म मानता है। इस जीव को मुल्कीर और नकीर नाम के देवदूत कब्र में संभालते हैं। इस्लाम धर्म की मान्यता के अनुसार न्याय के दिन सब ईश्वर के साथ न्याय पाने के लिए एक पंक्ति में खड़े रहते हैं। वे मानते हैं कि एक दिन भगवान सब जीवों का इन्साफ करेंगे। इससे सिद्ध होता है कि उस दिन तक जीव का अस्तित्व रहता है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं– हे अर्जुन ! तेरे और मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं, उन सबको तू नहीं जानता परन्तु मैं जानता हूँ। ऐसा गीता में कहकर पुनर्जन्म का समर्थन करते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धांत पर ही तो हमारा पूरा नीतिशास्त्र खड़ा है। आज कितने व्यक्ति कहते हैं कि Greatest good of the greatest hunber अधिकतम लोगों का अधिकतम हित।

इस विचार के आधार पर ही नीतिशास्त्र का निर्माण है। परन्तु वह Good (हित) किस लिये किया जाय। यहीं पर पुनर्जन्म का सिद्धांत सफल सिद्ध होता है।

अर्जुन का व्यामोह भी पुनर्जन्म की कल्पना पर ही खड़ा है अर्जुन गीता के प्रथम अध्याय में कहते हैं–

उत्साद्यन्ते जाति धर्माः कुल धर्माश्च शाश्वताः।[1]

उत्सन्न कुल धर्माणां मनुष्याणाम जनार्दन ॥

---

1. गीता अ० 1 श्लोक 43

नरकेऽनियतं वासो भगवतीत्युनुशुश्रुम् ।।[2]

मृत्यु के बाद भी मानव की एक स्थिति है गति है। युद्ध के परिणाम स्वरुप समाज में अव्यवस्था होगी ही साथ ही नरक में वास करना होगा। इसी का अर्जुन को भय लगता था। गीता में श्रीकृष्ण ने पुनर्जन्म को एक गृहीत सत्य के रुप में स्वीकार किया है।

4.3. गीता में प्रतिपादित धर्म का स्वरुप-

मनुष्य के बारे में कहा जाता है कि वह एक सामाजिक प्राणी है। (Man is a social animal) वह अकेला नहीं रह सकता इसलिए स्वयं को वैयक्तिक सुख कैसे मिले और समाज के अनुकूल कैसे बनें इत्यादि समस्याऐं भी उसको उलझन में डालती हैं क्योंकि वह न केवल भोगकांक्षी है अपितु भावाकांक्षी भी है। अतः भाव कैसे निर्माण होगा, कैसे टिकेगा, कैसे बढ़ेगा इत्यादि प्रश्नों का उत्तर वह ढूंढता रहता है। तदुपरान्त मानव को विचार करने पर लगता है कि इस जन्म से पहले भी जन्म होना चाहिए और भविष्य में भी जन्म लेना पड़ेगा, इस जन्म पर पूर्व जन्म का प्रभाव पड़ता है और इस जन्म के बर्ताव का अगले जन्म में परिणाम भोगना होतो इस जन्म में किस प्रकार रहना साथ ही विश्व निर्माण करने वाली कोई अलौकिक अतीद्रिय शक्ति है उसका और मेरा क्या सम्बन्ध है ? उसके पास किस मार्ग से जा सकते हैं ? इत्यादि अनेक विचारों की उलझन मनुष्य के मन में निर्माण होती है और उन उलझनों का उत्तर देने का प्रयत्न धर्म ने किया है।

---

1. गीता अ० 1 श्लोक 44

केवल ऐहिक बातों पर जिसमें विचार हो वह धर्म है या फिर पारमार्थिक परलोक का ही जिसमें विचार गया होता है वह धर्म है ?

गीता के अनुसार धर्म उसको कहते हैं जिसमें ऐहिक और पारमार्थिक दोनों बातों का सुन्दर विचार किया गया हो। ऐहिक और पारमार्थिक ऐसे दो अलग विभाग जीवन में कर ही नहीं सकते। जीवन में ऐहिक और पारमार्थिक दोनों बातों की जरुरत है दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हैं इसलिए गीता ऐहिक और पारमार्थिक दोनों को अलग नहीं मानती।

इहलोक और परलोक दोनों लोकों का कल्याण करे वहीं धर्म है इन दोनों बातों का सुन्दर समन्वयात्मक विचार गीता ने किया है।

गीता में प्रतिपादित धर्म के स्वरुप का तात्पर्य किसी मत मतान्तर या सम्प्रदाय से नहीं है उससे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई धर्म का अर्थ नहीं समझना चाहिए। गीता में धर्म का स्वरुप कर्तव्य कर्म के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। गीता में धर्म को स्वधर्म या सहज कर्म कहा गया है सहज का शब्दार्थ तो है जो जन्म के साथ उत्पन्न हो परन्तु व्यक्ति में उन प्रवृत्तियों को भी जो जन्म के पश्चात् स्वभाव का अंग बन जाती है– सहज धर्म ही कहते हैं कहने का अर्थ है– स्वधर्म को स्वभाव का अंग होना चाहिए और इसके पालन में कर्तव्य परायणता की भावना इतनी प्रबल होनी चाहिए कि मनुष्य स्वधर्म के त्याग और अवहेलना को मृत्यु से अधिक सुखदायी समझे। ऐसा गीता का स्पष्ट निर्देश है। यह बात भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन से अठारहवें अध्याय में कहा है।

[illegible] पेज 1, 2

धर्मशास्त्रों में जिस प्रकार वर्ण धर्म और आश्रम धर्म को मोक्ष प्राप्ति के लिये आवश्यक साधन के रूप में देखा गया है उसी प्रकार गीता में श्रेय का साधन धर्म है। गीता में धर्म के स्वरुप को स्वधर्म कहा गया है। स्वधर्म के पालन में प्राणों के चले जाने की भी चिन्ता न करने का उपदेश है और यह भी आदेश है कि स्वधर्म के सदोष होने पर भी न त्यागे।[1]

गीता के अनुसार स्वधर्म का पालन ही वास्तविक धर्म है। गीता में धर्म का स्वरुप स्वाभाविक कर्तव्य कर्म के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

गीता में धर्म से तात्पर्य वर्ण और आश्रम धर्म के पालन से ही है। अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित करते हुये श्रीकृष्ण ने कहा है कि स्वधर्म के विचार से भी तुझे युद्ध से नहीं हटना चाहिए। धर्म युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई धर्म क्षत्रिय के लिये नहीं है।[2] पुनः कहा गया है कि – "यदि तू इस धर्म को नहीं करेगा तो स्वधर्म से च्युत हो जाएगा और पाप तथा अपकीर्ति का भी भागी बनेगा।[3]

गीता में स्वधर्म को सहज धर्म अथवा सहज कर्म भी कहते हैं। सहज का शब्दार्थ तो है – जो जन्म के साथ उत्पन्न हो परन्तु व्यक्त में उन प्रवृत्तियों को भी जो जन्म के पश्चात स्वभाव का अंग बन जाती है– सहज धर्म ही कहते हैं। कहने का अर्थ है स्वधर्म

---

1. श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
   स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।। (गीता अ० 3 श्लोक–35)
2. यादृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमयावृतम्।
   सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।। (गीता अ० 2 श्लोक–32)
3. अकीर्तिं चापि भूतानि, कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
   सम्भावतिस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।। (गीता अ० 2 श्लोक–34)

को स्वभाव का अंश होना चाहिए और इसके पालन में कर्तव्य परायणता की भावना इतनी प्रबल होनी चाहिए कि मनुष्य स्वधर्म को त्याग और अवहेलना को मृत्यु से अधिक सुखदायी समझे।

धर्मशास्त्रों में चारों वर्णों और चारों आश्रमों का जो धर्म कहा गया है वहीं धर्म उन वर्णों और आश्रमों का स्वधर्म है। अपने वर्णों और आश्रमों को छोड़कर दूसरे वर्णो और आश्रमों का धर्म, पर धर्म कहलाता है। ऐसा गीता मानती है उदाहरण–बृहस्पति भव नामक यज्ञ का शास्त्र ने केवल ब्राह्मण के प्रति ही विधान किया है क्षत्रियादि के प्रति नहीं। इसलिये यह यज्ञ ब्राह्मण का स्वधर्म है और क्षत्रियवादि का पर धर्म इसी प्रकार राजसूय यज्ञ का शास्त्र में केवल क्षत्रिय के लिये विधान है, ब्रह्मणादि के लिये नहीं इसलिए राजसूय यज्ञ के क्षत्रिय के लिए स्वधर्म हुआ और ब्राह्मण के लिये पर धर्म है।

गीता में श्रीकृष्ण का कहना है कि स्वधर्म में गुण दोष देखने की आवश्यकता नहीं है। मेरे कर्म से दूसरे के कार्य उच्चकोटि का है या अधिक लाभदायक है, ऐसा नहीं सोचना चाहिए कार्य के गुण दोष का विचार फल सहित की ओर संकेत करता है। कर्मयोग का आदर्श– "कर्मण्येवाधिकारस्ते।"[1] स्वाभाविक कर्म चाहे दोषयुक्त क्यों न हो उसे त्यागना नहीं चाहिए। क्योंकि कर्म कोई भी ऐसा नहीं जिसमें अग्नि में धुएँ के समान किसी न किसी कार का दोष न हो।[2]

---

1. **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
   मा कर्मफल हेतु र्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।। (गीता अ० 18 श्लोक–48)
2. **सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।**
   सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः। (गीता अ० 18 श्लोक–48)

स्वधर्म के पालन में आलस्य और प्रमाद नहीं करना चाहिए क्योंकि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः" के अनुसार मृत्यु का भी भय न करके स्वधर्म पालन करने का विधान है।[1]

गीता में प्रतिपादित धर्म का स्वरुप विषय पर पुनः आते हुए हम देखते हैं कि गीता ने धर्म को नियम कर्म कहा है। "नियतं कुरु कर्मत्वम्" तू अपने नियत कर्म का पालन कर। नियत कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।[2]

4.4. कर्मवाद-

गीता का उपदेश सार्वभौमिक है। यह प्रत्येक देश, काल, जाति, धर्म के मनुष्य के लिए ग्राह्य है। आज का मानव भौतिक भोग लिप्साओं में भटकता हुआ अपने लक्ष्य से विमुख हो गया है। इस भटकती हुयी मानवता को कर्तव्य कर्मों को करते हुए और उनके फलों के प्रति अनासक्त भाव रखने, निष्काम कर्म की सतत साधना करने की दृष्टि गीता के उपदेश से ही उपलब्ध हो सकेगी। ऐसी दृष्टि मनुष्य के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होगी। कर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता है अतः कर्म से विमुख होने की अपेक्षा कर्म फल से विमुख होना ही गीता द्वारा श्रेयस्कर माना गया है।

गीता का सबसे अद्भुत उपदेश है-"निष्काम कर्मयोग"। फल में अनासक्ति रखते हुए कर्मों का संपादन करने से उनके गुण दोषों को भोगने के लिए मनुष्य उत्तदायी नहीं है। कर्मों के शुभाशुभ फलों से बचने का एकमात्र उपाय निष्काम कर्म है, कर्मों के

---

1. **श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परमर्धात्स्वनुष्ठितात्।**
   स्वधर्मे निधनं श्रेयः परमधर्मो भयावहः।। (गीता अ० 3 श्लोक-35)
2. **नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।**
   शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।। (गीता अ० 3 श्लोक-8)

सम्पूर्ण त्याग से सिद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षणमात्र भी बिना कोई कर्म किए नहीं रह सकता। निःसंदेह सब लोग अपनी प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर कर्म करते हैं। कर्मेन्द्रियों को रोककर इन्द्रिय भोगों की मन में कल्पना करने वाला मिथ्याचारी होता है।

कर्मयोग तो करना ही है। कर्म किए बिना कोई रह नहीं सकता। परतंत्रता और पराधीनता से किए हुए कर्म लाभदायक, सुखदायक, आनन्ददायक और विकास में सहायक नहीं बनते। इसलिए स्वेच्छा और स्वतंत्र बुद्धि से कर्म करना ही श्रेष्ठ कर्मयोग है।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'[1] कहकर श्रीकृष्ण प्रथम ही प्रहार करते हैं 'तू फल की चर्चा ही न कर। तेरा केवल कर्म करने का अधिकार है। क्या फल तेरे हाथ में हैं ? फिर तू उसकी चर्चा क्यों करता है ? तू ठीक से अपने अधिकार को समझ ले।' श्रीकृष्ण कहते हैं कि–"तू यदि सामान्य मानव होगा तो तुझे कर्म करना ही पड़ेगा और यदि असामान्य होगा तो तुझे भगवान का हथियार बनकर कर्म करना पड़ेगा। इसमें तेरे मत का कोई मूल्य नहीं है।" जिस प्रकार हमारे हाथ में रहने वाले चाकू की अपनी कोई आशा, आकांक्षा, भावना, कल्पना, रुचि–अरुचि अथवा मत नहीं होता, वह हमारे हाथ का हथियार मात्र होता है और जिस प्रकार वह आम या केले को काटता है उसी तरह करेले को भी काटता है उसी प्रकार गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं–तू हथियार साधन मात्र है, तेरा कर्म करने का अधिकार है, फल पर तेरा अधिकार नहीं है। फिर श्रीकृष्ण कहते हैं

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 2 श्लोक–47

योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्क त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्धयसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते।।[1]

"हे अर्जुन तू आसक्ति छोड़कर तथा योगस्थ होकर कर्म कर।"

गीता में समत्व योग कहा हैं। गीता निर्द्वन्द स्थिति से ऊपर जाने तथा कर्मफल की आशा तथा कर्म करने का भी त्याग करने को कहती है। कुछ लोग कर्मफल की आशा में तल्लीन होते हैं और कुछ कर्म में ही लीन होते हैं। इसीलिए गीता दोनों के त्याग को कहती है।

गीता कर्म छोड़ने की बात नहीं करती कर्म के लिए तो उसका प्रबल आग्रह है। इसीलिए गीता में कहा गया है—स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितु मर्हासि। (अपना धर्म समझते हुए कर्म कर, कर्म से भयभीत मत हो) इसमें कर्म का आग्रह है। मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' कर्म का त्याग अर्थात् कर्म अभिमान का त्याग। गीता फल और अभिमान दोनों को ही द्वन्द मानती हैं।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।[2]

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है इससे तू समत्वरूप योग में लग जा, यह समत्व रूप योग ही कर्मों में कुशलता है।

इस श्लोक में बुद्धियोग का वर्णन किया गया है। अमुक फल मिलेगा ऐसी आशा

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 2 श्लोक—48
2. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 2 श्लोक—50

नहीं और अमुक फल मिलना ही चाहिए ऐसा आग्रह नहीं है। फिर भी कृतिशीलता बनी रहती है इस अवस्था के बाद यह योग प्राप्त समझाते हैं–

कर्मजं बुद्धियुक्त हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।

जन्मबन्धविनिमुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।[1]

क्योंकि समबुद्धि से युक्त ज्ञानीजन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्म रूप बन्धन से मुक्त हो निर्विकार परमपद को प्राप्त हो जाते हैं।

तू बुद्धियुक्त बन अर्थात् समत्वबुद्धि वाला बन। कीर्ति–अपकीर्ति, जय–पराजय, सिद्धि–असिद्धि इत्यादि बातें तेरे कर्म के हेतु पर प्रभाव न डाल सकें ऐसा बुद्धिवाला बन। साथ ही तू मनीषी बन।

मनीषी अर्थात् मन की शक्ति पर प्रभुत्व रखने वाला। श्रीकृष्ण यहाँ कर्मयोग की अपेक्षा करते हैं। गीताकार कहते हैं–वह युक्त आसीत मत्परः समाहित चित्तवाला, स्थिर और मेरे परायण, "नित्य सत्वस्थ–नित्य वस्तु में स्थित।" बुद्धियुक्तः समत्व बुद्धि वाला और मनीषिणः मन की शक्ति पर प्रभुत्व रखने वालाहोगा। इसलिए हे अर्जुन ! तू कर्मफल हीन बन निर्विकार बन अर्थात् जीवन की चिंता और कामनाओं को त्याग दे।"

वर्ण व आश्रम व्यवस्था के अनुसार काम करने लगे कि कर्म के तीन प्रकार होते हैं–

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बौद्धव्यं च विकर्मणः।

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।[2]

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 2 श्लोक–51
2. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 4 श्लोक–17

कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए तथा विकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए, क्योंकि कर्म की गति गहन है।

मुझे अमुक वस्तु प्राप्त करनी है ऐसा संकल्प करके फल की इच्छा से जो कार्य किया जाता है उसे कर्म कहते हैं। वह तुच्छ या त्याज्य नहीं है।

कुछ आचार्य और भाष्यकार विकर्म का अर्थ विपरीत कर्म ऐसा करते हैं। मनुष्य को विपरीतकर्म नहीं करना चाहिए। परन्तु विकर्म का एक दूसरा अर्थ भी है विशेष कर्म। मनुष्य जो कर्म करे वह मन लगाकर करे। मन लगाकर किया हुआ शास्त्रोक्त कर्म ही विकर्म कहलाता है।

अकर्म यानी अभिमान और फलासक्ति छोड़कर किया गया कर्म। ऐसा गीताकार ने गीता में कहा है।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।

स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत।।[1]

जो मनुष्य कर्म में अकर्म देखता है और जो अकर्म में कर्म देखता वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वह योगी समस्त कर्मों को करने वाला है।

कर्म को अकर्मत्व लाने वाला ही सच्चा बुद्धिमान और सच्चा पुरुषार्थी है। ऐसा गीता कहती है।

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 3 श्लोक–13

अब श्रीकृष्ण कर्माकर्म का रहस्य कहते हैं–

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।[1]

"कर्मफल की इच्छा न होने से ही मुझे कर्मबन्धन नहीं है इस तत्व को जाननेवालों को भी कर्मबन्धन नहीं होता।"

कर्मालस्य (Sin of ommission) भी न हो और कर्म करते रहने पर वह चिपके भी नहीं ऐसी अवस्था लानी है यह बात श्रीकृष्ण ने निम्न श्लोक में सुन्दर ढंग से समझायी है।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्प वर्जिताः।

ज्ञानाग्निदग्ध कर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः।।

जिसके सम्पूर्ण कार्य, कामना और संकल्प ज्ञानरूपी अग्नि में दग्ध हो गये हैं, वही पंडित है।

गीता में श्रीकृष्ण ने कर्म के पाँच प्रकार बताये हैं–

1. स्वभाविक कर्म 2. नियत कर्म 3. सहज कर्म 4. परिस्थिति जन्य कर्म 5. यज्ञ कर्म।

स्वभाविक कर्म हमारी इच्छा अथवा प्रयत्न से नहीं अपितु स्वयमेव होते रहते हैं जैसे शरीर के अन्दर रक्त परिवहन, श्वासोच्छवास की क्रियाएँ स्वयं ही संचालित होती रहती हैं व्यक्ति भले ही उनके लिए कृतिशील नहीं है परन्तु क्या ये कृति नहीं है ? ऐच्छिक या अनैच्छिक क्रियाएँ कृति (कर्म) ही हैं। ये सभी स्वाभाविक कर्म हैं।

---

1. **श्रीमद्भगवद गीता अ० 4 श्लोक–14**

स्वाभाविक कर्म के साथ–साथ कुछ नियत कर्म भी हैं। इस संबंध में गीता कहती है–

नियतं कुरु कर्मत्वँ कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते न प्रसिद्ध येद कर्मणः।।[1]

"शास्त्रानुसार नियत किये गये स्वधर्म रूपी कर्म कर। कर्म न करने की अपेक्षा कर्मकरना श्रेष्ठ है। कर्म न करने से शरीर निर्वाह भी नहीं होता।"

ब्राह्मणादि चारों वर्ण और ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के लिए निश्चित किये गये कर्म नियत कर्म हैं। सृष्टि के सर्जनहार ने समाज की स्थिरता को बनाये रखने तथा मानव के जीवन विकास हेतु जो कर्म निर्धारित किये गये हैं वे नियत कर्म कहलाते हैं।

इस प्रकार पूर्व जन्म के संस्कार से आये हुए कर्म सहज कर्म हैं।

कितने ही कर्म परिस्थिति के कारण होते हैं उदाहरण स्वरूप कोई बाह्य राष्ट्र हमारे राष्ट्र पर आक्रमण कर दे और राष्ट्र पर संकट आ पड़े तो शत्रु के पराभव और राष्ट्र के रक्षण के लिए जो कर्म करने पड़ेगें वे परिस्थिति प्राप्त कर्म कहलायेंगे। इसी प्रकार बाढ़, अकाल, अवर्षण, महामारी आदि प्राकृतिक आपत्तियों के निवारणार्थ जो कर्म करने पड़ते हैं वे भी परिस्थिति प्राप्त कर्म कहलाते हैं।

पाँचवे प्रकार का कर्म यज्ञ कर्म है यह अत्यन्त पवित्र कर्म है। गीता ने यज्ञ शब्द की व्यापकता को बतलाया है। वह कहती है कि कर्म के डंख को निकाल दे और इस प्रकार से कर्म कर जिससे उपभोग और अभिमान नहीं बढ़ेंगे। ऐसा हवन करने के पश्चात ही यज्ञ होता है।

---

1. श्रीमद्भगवद् गीता अ० 3 श्लोक–8

कर्म करने से व्यक्ति के पास दो बातें आती हैं एक कर्म के फल का उपभोग और कर्म करने का अहंकार। गीता इन दोनों का हवन–स्वाहा करने को कहती है। गीता यज्ञ का व्यापक अर्थ समझाती है।

गीता में श्रीकृष्ण ने कई बातें समझायी हैं प्रथम बात यह है कि कर्मयोग सांसारिक और मुमुक्षु दोनों के लिए हैं दूसरी बात अकर्मत्व (अकर्मव्यवस्था) की कल्पना संसारी मानव को पापोन्मुख करने वाली है। तीसरी बात कोई कर्म करे या न करे परन्तु वह स्वभाव वश नित्य होता ही रहता है। चौथी बात कर्म करने को नकारने वाला व्यक्ति धूर्त ढोंगी और मिथ्याचारी है–"मिथ्याचारी स उच्यते"। पांचवी बात कर्म करके फल त्याग की वृत्ति (अहंकार रहित) रखकर अकर्ता रहने वाला पुरुष श्रेष्ठ है। छठी बात जब कर्म होने वाला ही है तो फिर शास्त्र विहित कर्म ही करना चाहिए।

सकाम कर्म बन्धन कारक होते हैं निष्काम परोपकारार्थ, प्रत्युपकारार्थ एवं कृतज्ञतापूर्वक किये कर्म श्रेष्ठ हैं श्रीकृष्ण ने कहा है–

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म बन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्त संगः समाचर।।[1]

यज्ञ के निमित्त किये जाने वाले कर्मों से अतिरिक्त दूसरे कर्मों में लगा हुआ ही यह मनुष्य समुदाय कर्मों में बंधता है। इसलिए हे अर्जुन ! तू आसक्ति से रहित होकर उस यज्ञ के निमित्त ही भलीभांति कर्तव्य कर्म कर।

---

1. गीता अ० 3 श्लोक–9

4.5. मोक्ष और उसके साधन

श्रीमद्भगवद् गीता ने मानव जीवन का परम पुरुषार्थ (उद्देश्य) ब्रह्म से मिलन अर्थात् मोक्ष स्वीकार किया है। मोक्ष मानव का आध्यात्मिक पुरुषार्थ है। मानव स्वभाव से नियंत्रित प्राणी है। वस्तुतः कुछ व्यक्ति सात्विक स्वभाव से प्रेरित व्यवहार करते हैं, कुछ राजसिक स्वभाव जनित तो कुछ तामसिक मानव स्वभाव से अभिप्रेरित हो व्यवहार करते हैं किन्तु आध्यात्मिक व्यक्ति अपने स्वभाव से मुक्ति पा लेता हैं। सासांरिक व्यक्ति जो स्वभाव से मुक्त नहीं हो पाते, वे प्रायः भौतिक पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम के माया जाल में फँसे रहते हैं। इसी कारण वे जन्म–मृत्यु के चक्र में उलझे रहते है।

जो स्वभाव से मुक्त मानव होते हैं वे आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते हुये निष्काम कर्म करते हैं उन्हें फल की आकांक्षा नहीं होती। हानि–लाभ, यश–अपयश, सुख–दुःख आदि में भी धैर्यपूर्वक समभाव बनाये रखते हैं उनमें कर्तापन का भाव स्वतः ही नष्ट हो जाता है ऐसा मानव जन्म–मृत्यु के चक्र से मुक्त हो मोक्ष प्राप्त करता है स्वभावानुसार जीवनयापन करने वाले व्यक्ति का जीवन उसकी चेतना तक ही सीमित है उसके व्यवहार की दृष्टा उसकी जीवात्मा है जब तक आत्मा जीव के शरीर में है उसकी चेष्टा मन तक ही सीमित है। चेतना (मन) के स्वभाव से मृत्यु होने पर उसकी आत्मा परमात्मा से मिल जाती है इस मिलन को ही मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम मानसिक नियंत्रण से मुक्त हो, अहंकार से मुक्त हों। जो इच्छामुक्त (आसक्ति रहित) कर्ताभाव से मुक्त (अहंकार रहित) तथा समभाव (सुख–दुःख में समन) से युक्त है वही सच्चे अर्थ में मुक्त मानव है।

मोक्ष साधन के तीन मार्ग हैं– 1. कर्मयोग 2. ज्ञान योग तथा 3. भक्ति योग। इन तीनों साधनों की व्यवस्था मानव के स्वाभावानुसार नियत है। राजसिक स्वभाव के व्यक्ति के लिये कर्मयोग, सात्विक व्यक्ति के लिए ज्ञानयोग तथा तामसिक व्यक्ति के लिये भक्तियोग का प्रावधान है मनुष्य अपने जीवन की अलग–अलग अवस्थानुसार भी इन तीनों साधनों का अभ्यास करता है। ब्रह्मचर्य अवस्था में ज्ञानयोग गृहस्थअवस्था में कर्मयोग तथा वानप्रस्थ में भक्तियोग के द्वारा मुक्ति पाने का अभ्यास करता है।

इन तीनों साधनों की विषय वस्तु अभ्यासकर्ता के व्यक्तित्व के बाहर है, भीतर नहीं। कर्मयोग की विषय वस्तु पुरुषार्थ है। एक गृहस्थ कर्म करता हुआ अर्थ, काम, तथा धर्म रूपी ऐश्वर्य प्राप्त करता है तथा उनका समाज कल्याण में उपयोग कर मुक्ति प्राप्ति का सुख तथा कीर्ति प्राप्त करता है। खुलकर दान करने में वह कर्तापन के भाव से मुक्त हो जाता है वैभव के अभिमान को अनुभव नहीं करता।

ज्ञान योग की विषय वस्तु वह अनुभव है जिसे वह अपनी सांस्कृतिक तथा दार्शनिक धरोहर का अध्ययन करते हुए प्राप्त करता है और इस शाश्वत सत्य को पहचानता है कि वह स्वयं शरीर नहीं बल्कि आत्मा है जिसका श्रोत ब्रह्म है अतः ज्ञानयोग से बुद्धि नहीं विवेक प्राप्त होता है।

भक्तियोग की विषय वस्तु साकार ब्रह्म है भक्त अपनी अवस्थानुसार किसी भी अवतार देवी, देवता, संत, वृक्ष, नदी या पहाड़ आदि किसी को भी आराध्य मानकर उससे सम्बन्ध स्थापित करते हुए उससे प्रेम करता है। वह अपने को इष्ट के प्रति समर्पित कर देता है। समर्पण से भक्ति निष्काम हो जाती है। यही अपने स्वभाव से मुक्ति का साधन है।

श्रीमद्भगवद् गीता जीवन को पूर्ण मानती है तथा मानव की विभिन्नता का आकार, वर्ण, लिंग तथा सामाजिक स्तर को नहीं मानती। इसीलिये गीता कर्म, ज्ञान तथा भक्ति मार्गों को अलग–अलग न मानकर एक दूसरे का पूरक मानती हैं क्योंकि तीनों मार्गों का केवल एक ही सत्य है ''स्वभाव के बन्धन से मुक्ति''।

जीवन–मृत्यु के अनेक चक्रों का पार करके प्राणी की आत्मा का अन्तिम पड़ाब मोक्ष है जहाँ आत्मा शारीरिक गुणों (सत, रज, तम) से मुक्त होकर ब्रह्म में लीन हो जाती है।

मोक्ष की स्थिति मानव का चतुर्थ पुरुषार्थ है जिसका स्तर आध्यात्मिक है प्रथम तीन पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, तथा काम भौतिक स्तर के हैं जिनका सम्बन्ध शरीर से है। भौतिक संसार में श्रेष्ठतम जीवन यापन के लिये मर्यादित कर्म (धर्म) अर्थ–अर्जन तथा गृहस्थ जीवन (काम) मानव के लक्ष्य (पुरुषार्थ) हैं। भौतिक लक्ष्य मानव अपने के प्रथम तीन आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ में प्राप्त करता है।

संहिताकाल और ब्राह्मण काल में भोग प्रधान प्रवृत्ति का ही प्राधान्य रहा। यह वास्तविकता भी थी क्योंकि जब तक मनुष्य के समक्ष भौतिक पदार्थों की मृग मरीचिका का रहस्य उद्घाटित नहीं हो जाता तब तक वह अपने मस्तिष्क में से इनके प्रति सदैव विद्यमान रहने वाली आशा को प्रत्यावर्तित नहीं कर सकता। इन्द्रियाँ स्वभावतः वाह्योन्मुखी होती है। यह् सत्य है कि मनुष्य की यह स्थिति सदैव नहीं रहती। इस जीवन में घिरकर वह पूछने लगता है कि ''वह कौन सा देव है जो इस मुत्यु से परे है। वह इस मृत्यु से

बचने की प्रार्थना करने लगता है कि हे देव, मुझे मृत्यु से अमृतत्व की ओर ले जाओ अन्धकार से प्रकाश की ओर मेरा उन्नयन करो।[1] उसे सर्वत्र एषणाओं का साम्राज्य ही परिलक्षित होता है एवं वह इस हिरण्यमय पात्र को अपावृत्त करने की प्रार्थना करता है। वह स्पष्टतः इस तथ्य से अवगत हो जाता है कि परिमित भौतिक पदार्थो में सुख नहीं है। इस प्रकार जगत के प्रति निराशामयी दृष्टि एवं पुनर्जन्म के दुःखों की विभीषिका ने मोक्षफल रुप आत्म तत्व की धारणा का अनुभव प्राप्त कराया।

मोक्ष के निषेधात्मक और विध्वंसात्मक रुप दो प्रकार के फल होते हैं मोक्ष के निषेधात्मक रुप में साधक शास्त्र विहित साधनों का अनुष्ठान करने से जन्ममरण के चक्र से दुःखों और कर्म बन्धन से युक्त हो जाता है। मोक्ष के द्वितीय स्वरुप में अविद्या, अस्मितादि, चित्तवृत्तियों के दोष दूर हो जाने से भक्त साधक ईष्वर प्राप्ति रुप फल की ओर ज्ञानी साधक ब्रह्मात्मैक्य रुप अभेद स्थिति को प्राप्त करता है। गीता में मोक्ष के दोनों ही स्वरुपों का प्रतिपादन है।

''समत्वबुद्धि से युक्त पुरुष कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है जो ईश्वर के दिव्य कर्मो के स्वरुप को जानता है। वह देह का त्याग कर पुनर्जन्मादि से मुक्त हो परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है।[2] ज्ञान के द्वारा पाप रहित हुए ज्ञानी पुरुष अपनुरावृत्ति रुप परमगति को प्राप्त करते हैं।[3] इन स्थानों में गीता ने साधक के लिये पुनर्जन्मादि दुःखों

---

1. असतो मा सद्गमय
   तमसो मा ज्योर्तिगमय
   मृत्युर्मामृतम गमय।
2. बुद्धि युक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। (गीता अ० 2 श्लोक 50)
3. लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणभृषयः क्षीणकल्मषाः।
   छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।। (गीता अ० 5 श्लोक 25)

से मुक्त होने की बात कही है परन्तु प्रश्न उठता है कि मोक्ष के विध्वासात्मक रुप में गीता सम्मत सिद्धान्त ईश्वर प्राप्ति रुप फल का है अथवा उपनिषदों के समान ''ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति'' के सिद्धांत का वहाँ प्रतिपादन है। वैसे तो गीता ने यहाँ तक कहा है कि ''जो ईश्वर का जिस रुप में भजन करते हैं ईश्वर भी उनको उसी प्रकार का फल देते हैं।[1] इसीलिए गीता में समन्वय भावना की प्रमुखता होने से दोनों ही प्रकार के सिद्धांत है। ''ब्रह्मनिर्वाण मृच्छति''[2] ''ब्रह्मभूयायकल्पते''[3] आदि स्थलों के द्वारा गीता ने जहाँ मोक्षावस्था में ब्रह्मलय के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है वहाँ ''परमं पुरुषं दिव्यं याति।''[4] तं परं पुरुषं मुपैतिदिव्यम[5] ''मामुपेत्य तु कौत्तेय पुनर्जन्म न विद्यते''[6] ''मत्कर्मकृत्मत्परमो मामेति'' ''पाण्डव[7]'' ''निवसिष्यसि मय्येव[8] तथा गीता के अध्याय सातवें के 23वें श्लोक तथा छठवें के उन्नीसवें श्लोक आदि में ईश्वर प्राप्ति रुप मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं।

---

1. ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 4 श्लोक 11)
2. एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नेनां प्राप्य विमुह्यति।
   स्थित्वा स्यामन्त कालेऽपि ब्रह्म निर्वाण मृच्छति।। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 72)
3. अहंकारं बलं दर्पं काम क्रोधं परिग्रहम्।
   विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 18 श्लोक 53)
4. अभ्यास योग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
   परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 8 श्लोक 8)
5. प्रयाण काले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
   भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् सतं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 8 श्लोक 10)
6. आ ब्रह्मभुवनालोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।
   मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 8 श्लोक 16)
7. मत्कर्मकृन्मत्परमो मदभक्तः सङ्ग वर्जितः।
   निर्वेरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 11 श्लोक 55)
8. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय।
   निवसिष्यसि मय्येव अतः उर्ध्वं न संशयः।। (श्रीमद्भगवद् गीता अ० 12 श्लोक 8)

पंचम अध्याय : गीता का दर्शन और शिक्षा

अध्याय - 5

गीता का दर्शन और शिक्षा

भूमिका–प्रस्तुत अध्याय में जीव और जीवन के प्रत्यय (अर्थ), जीवन के उद्देश्य पर प्रकाश डाला गया है। गीता की दृष्टि से शिक्षा का अर्थ एवं उद्देश्य, पाठ्यकम, शिक्षण विधि, शिक्षक के गुण, छात्र के गुण, शिक्षक–शिक्षार्थी सम्बन्ध आदि प्रस्तुत अध्याय के प्रतिपाद्य विषय हैं।

5.1 जीव और जीवन का प्रत्यय (अर्थ)-

गीता में गीताकार श्रीकृष्ण ने जीव और जीवन के प्रत्यय पर विचार किया है। जब आत्मा प्रकृति में या शरीर में गुणों या विषयों के कारण बद्ध रहता है तो उसे जीव या जीवात्मा कहते हैं। कर्मों के कारण ही आत्मा बद्ध होती है। सभी कर्म सब प्रकृति के गुणों के कारण निष्पन्न होते है। परन्तु आत्मा अज्ञानवश अपने को कर्ता समझने लगती है यदि आत्मा कर्ता नहीं तो फिर करता कौन हैं ? और वह बद्ध हो जाती है सही बद्ध आत्मा ही जीवात्मा भोक्ता बनकर प्रकृति में स्थिर मन सहित छः इन्द्रियों द्वारा आकर्षित होकर विषयों का सेवन करती है : और स्वयं विषयों में फँस जाती है। विषयों में फँस जाने का अर्थ विषयों में आसक्ति के कारण जीवात्मा नए–नए शरीर धारण करती है जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर नए वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा पुराने शरीरों

को त्यागकर नए शरीर को धारण करती है।[1] जीवात्मा जब एक शरीर का त्यागकर दूसरा शरीर धारण करती है तो वह मन सहित पाँच इन्द्रियों को भी उसी तरह अपने साथ ले जाती है जिस प्रकार वायु किसी सुगन्ध के आश्रय या पुष्पादि से सुगन्ध उड़ा कर ले जाती है।[2] जीवात्मा सदा ही रूप बदलती रहती है। किसी भी सान्त या सीमित रूप में उसके अनन्त स्वरूप की पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति नहीं होती। यह देहान्तर गमन का सिलसिला तब तक समाप्त नहीं होता जब तक वह अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच जाता। अर्थात सत् रूप में नहीं आ जाता और अनन्त ब्रह्म में जाकर विलीन नहीं हो जाता। यह जीव (जीवात्मा) परमेश्वर का ही अंश है वह नए सिरे से बार–बार उत्पन्न नहीं हुआ करता वह परमेश्वर का ही सनातन अंश है।

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि जीव मेरा ही अंश है।[3] और मैं ही एक अंश से सारे जगत में व्याप्त हूँ।[4] इस जगत में व्याप्त परमेश्वर और मनुष्य के शरीर में अवस्थित आत्मा के भेद को बताने के लिए यह कहना पड़ता है कि जीवात्मा परमेश्वर का अंश है। 'अंश' शब्द का अर्थ काट कर अलग किया हुआ कोई टुकड़ा नहीं है अपितु तात्विक दृष्टि से इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि जिस प्रकार एक घड़े के भीतर का

---

1. **वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृहणति नरोऽपराणि।**
   तथा शरीराणि विहाय जीर्णा–न्यन्यानि संयाति नवानि देही।। (गीता अ० 2 श्लोक–2)
2. **शरीरं यदवान्प्रोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।**
   गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।। (गीता अ० 15 श्लोक–8)
3. **ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।**
   मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।। (गीता अ० 14 श्लोक–7)
4. **अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।**
   विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्। (गीता अ० 10 श्लोक–42)

आकाश और घड़े का आकाश एक ही सर्वव्यापी आकाश का अंश है उसी प्रकार जीवात्मा भी पर ब्रह्म का ही अंश है।

श्री कृष्ण ने पुनः कहा है कि ''मै ही समस्त भूतों में स्थित हूँ''[1] मै ही सबके हृदय में अधिष्ठित हूँ।''[2] अतः गीता बार–बार जीव व ब्रह्म के तादात्म्य का उद्‌घोष करती है।

कठोपनिषद एवं ब्रह्मसूत्र में दो आत्मतत्वों जीवात्मा एवं परमात्मा का उल्लेख आया है। इसी प्रकार गीता में भी आत्मा शब्द से दो आत्म तत्वों कभी जीवात्मा का कभी परमात्मा का अर्थ किया जाता है

सभी शास्त्रकार कहते हैं ''आकाश में रहने वाले पिता को नमस्कार कर'' लेकिन गीताकार ने कहा है – ममैवाशों तू मेरा ही अंश है इतना ही नहीं ''सर्वस्य चाहं हदि संनिविष्टः'' मैं तुझमें तेरे हृदय में ही स्थित हूँ जिससे मनुष्य का जीवन संयमित बने अव्यवस्थित न रहे। इसके अतिरिक्त यह भी आश्वासन है कि तू अकेला नहीं है मैं भी साथ हूँ।

जीव प्रभु का अंश–

ममैवांशो जीव लोके जीवभूतः सनातनः।

मनः षष्ठानी न्द्रियाणि प्रकृति स्थानि कर्षति।।

(गीता अ० 15 श्लोक 7)

यह जीव मेरा ही सनातन अंश है और यह प्रकृति में स्थित मन सहित पाँच इन्द्रियों को अपनी ओर आकर्षित करता है।

---

1. **यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।**
   न तदस्ति विना यतस्यान्मया भूतं चराचरम्।। (अ० 10 श्लोक–39)
2. **सर्वस्य चाहं हदि संनिविष्टो, मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।**
   वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।। (अ० 15 श्लोक–15)

यह श्लोक मानव में तेज उत्पन्न करता है। कर्मयोगी की यहाँ समाधि लगे ऐसा यह श्लोक है। जीव में शिव का अशं है। भगवान जीवात्मा को कहते हैं, तू मेरा अंश है मेरे अंग–अंग से तेरी उत्पत्ति है। जैसा पिंड में वैसा ब्रहमांड में है।

शरीरं यदवा प्रोति यच्चाप्युत्क्रामती श्वरः।

गृहीत्वैतानि संयाति वायु र्गन्धानिक वाशयात्।

जीवात्मा जब एक शरीर छोडकर दूसरे शरीर में जाता है तब पूर्व जन्म की वासनाऐं मन और इन्द्रियों को साथ लेकर ही जाता है।

श्रोत्रं चक्षु स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।

अधिष्ठाय मनश्रायँ विषयानुप सेवते।।

और वहाँ कान, आँख स्पर्शेन्द्रियाँ, जीभ, नाक तथा मन को धारण करके यह जीवात्मा विषयों का सेवन करता है। शायद जीव को लगे कि भगवान आप इतने दूर हैं तब भगवान कहते हैं–

अंह वैश्वानरौ भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।

प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।

मै जठराग्नि बनकर प्राणियों के शरीर में रहकर प्राण और अपान वायु से युक्त होकर चार प्रकार के अन्न को पचाता हूँ।

तेरे शरीर में रहकर तुझे सँमालता हूँ तेरा रक्षण करने वाला मै हूँ। मानव शरीर में जो जठराग्नि वैश्रानर अग्नि जो आज तक कई मन अन्न को पाचन कर चुकी है फिर भी जिसकी ज्वाला अब तक नहीं बुझी है वहीं वैश्रानर मैं हूँ प्रभु की लीला अलौकिक है, वर्णन करते हुए वे मस्त बन गए है और अन्त मैं कहते हैं–

सर्वस्य चाहं हदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृति ज्ञानम पोहनं च।

वेदैच्श्र सर्वेरहमेव वेद्यो वेदान्त कृद्वेद विदेव चाहम्।।

मैं सभी के हृदय में स्थिर हूँ और मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और उनका अभाव विस्मृति होती है। सभी वेदों द्वारा जानने योग्य मैं ही हूँ तथा वेदान्त शास्त्र का कर्ता और वेदों को जानने वाला मै ही हूँ।

सभी के हृदयों का आधार भूत मै हूँ। प्राणि मात्र के शरीर में एक ही परमात्मा व्याप्त है। जिस सत्ता से हम चलते–बोलते तथा प्रसन्न और अप्रसन्न होते हैं उस सत्ता को हम संसारी–व्यवहारी मनुष्य पहचान नहीं सकते। जिस सन्ता को संसारी व्यक्ति पहचान नहीं सकता वह प्रत्यगात्मा है। यह तनिक विशुद्ध रूप में समझना आवश्यक है कि एक परमात्मा और दूसरा जीवात्मा है, इन दोनो के बीच प्रत्यगात्मा है। परमात्मा सर्वत्र व्यापक है, आत्मतत्व सर्वप्रथम सगुण साकार बनता है तो उसे हम परमात्मा कहते है। प्रत्यगात्मा यानी हमारे शरीर में स्थित चैतन्य। व्यापक प्रभु के चैतन्य का थोड़ा अंश अर्थात प्रत्यगात्मा है। वह अंश इस ढाँचे (शरीर) में आया। उस अंश की शक्ति को लेकर अंहकार के साथ लिगंदेह क्रियाशील बनता है तो हम उसको जीवात्मा कहते हैं।

इस शरीर में विद्यमान प्रत्यगात्मा परमात्मा शक्ति है व उसी को (स्व+भाव) स्वभाव तथा अध्यात्म भी कहते हैं कोई उपवास करने लगे तो उसे अध्यात्म नहीं कहते हैं। स्वभाव = (स्व+भाव) स्व यानी स्वयं और उसका भाव यानी स्वभाव जो 'मै' के साथ रहता है। 'मैं' के साथ परमात्मा नहीं अपितु प्रत्यगात्मा होता है। शक्ति तो वही है किन्तु नाम दूसरा दिया गया है। गंगा जी से एक लोटा पानी लेते है वैसा यह भी पानी से भरा

लोटा है। इसमें भी गंगा ही है आकाश बाहर वैसा भीतर भी है इसलिए हम घटाकाश, पाठशालाकाश कहते हैं। पाठशाला काश यानी पाठशाला में रहा हुआ आकाश। उसको हम लम्बा–चौड़ा कह सकते है। उसी प्रकार हमारे अन्दर जो शक्ति बैठी हुयी है और जिसका उपयोग करके जीवात्मा कार्य करता है वही शक्ति प्रत्यगात्मा है। उसे ही स्वभाव तथा अध्यात्म भी कहते हैं। उसको पहचानना, वह शक्ति सतत मेरे साथ है, यह जानना इसी का नाम ही अध्यात्म है। बिना जागृत हुए इस शक्ति का ज्ञान नहीं होता। प्रत्यगात्मा जिस चित् शक्ति का अंश है वह जब अंहकार सहित सत्रह तत्वों (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंचकर्मेन्द्रियाँ, पंचप्राण, मन व बुद्धि) से बने हुए लिंग देह के साथ काम करने लगता है तब उसको जीवात्मा कहते हैं। व्यापक परमात्मा कारण जीवात्मा (जिसको 'मैं' चिपका हुआ है) काम करता है।

विचारशील मानव के जीवन में प्रश्न उठते है कि जीवन किसकी शक्ति से चलता है? मुझे कौन जगाता है ? मेरा खाया हुआ अन्न कौन पचाता है ? मेरा लाल खून कौन बनाता है ? मुझे कौन सुलाता है ?

सृष्टि में सर्वत्र एक व्यवस्था का दर्शन होता है। उद्देश्य पूर्णता है। कार्यकारण संबध है। इसका मतलब यह है कि कोई व्यवस्था करने वाला है ही, वही भगवान है।

भगवान सिर्फ आकाश में नहीं सर्वत्र है, मुझमें भी है, वही मेरा जीवन चलाता है वही मेरे हृदय में आकर बसा है (सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः) वही मुझे जगाता है. वही मेरा खाया हुआ अन्न पचाता है। वही मुझ में सक्रिय है उसका मुझ पर प्रेम है। मुझ पर उसके उपकार हैं इसलिए कृतज्ञ बनना चाहिए।

जीवन की कोई भी क्रिया प्रभु के बिना संभव नहीं है इसलिए उसका स्मरण होना चाहिए।

जीवन का प्रत्यय–

गीता में समझाया है विधायक दृष्टिकोण और संयमी जीवन। उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों के बारे में चर्चा है।

जीवन न भोग के लिए है और न केवल त्याग के लिए जीवन संयम के लिए है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।[1]

5.2 जीवन का उद्देश्य–

मानव इस सृष्टि का श्रेष्ठतम् प्राणी है क्योंकि वह चिन्तनशील है वैसे देखा जाय तो जो शक्ति पशु–पक्षियों में है वह मनुष्य के पास नहीं है। गाय का बछड़ा पैदा होते ही तुरन्त अपने कदमों पर खड़ा हो जाता है जबकि मनुष्य के बच्चों को चलने में दो वर्ष का समय लगता है, मछली पैदा होते ही तुरन्त तैरना शुरू कर देती है। चिड़िया बिना इंजीनियर बने ही अपना घर (घोंसला) बना लेती हैं। गाय को कितना अच्छा जुगाली करना आता है। यह सारी शक्तियाँ मनुष्य के पास नहीं हैं लेकिन मुनष्य के पास विवेक है, बुद्धि है इसी के साथ वह चिन्तनशील प्राणी है। वह जीव, जगत और जगदीश के बारे में सोच सकता है।

1. श्रीमद्भगवद्गीता अ० 6 श्लोक 17

मनुष्य इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठतम् प्राणी इसलिए है कि वह इस विश्व ब्रह्माण्ड के बारे में चिन्तन कर सकता है। समझ सकता है। वह सृष्टि के सर्जक को पहचान सकता है उसकी अनुभूति कर सकता है।

गीता का स्पष्ट संदेश है कि यह विश्व आत्म रूप है और आत्मा विश्व रूप है इस चिरंतन सत्य की अनुभूति समस्त प्राणियों को होनी चाहिए।

गीता के अनुसार यह जीवन अमूल्य है यानी इसके द्वारा व्यक्ति महानता के शिखर तक जा सकता है। गीता का यह स्पष्ट मानना है कि जीवन मात्र खाओ–पिओ और मौज बनाओ के लिए नहीं मिला है बल्कि इस सृष्टि का मूल आधार क्या है ? उससे हमारा क्या सम्बन्ध है, इसको पहचानने के लिए मिला है।

आज विश्व का प्राणी चिंतन रहित जीवन जी रहा है वह बहुत संकुचित हो गया है उसकी एक सामान्य सी दिनचर्या है जब कि गीता के अनुसार जीवन का उद्देश्य दैवी दृष्टिकोण की प्राप्ति करना है। "जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि" यानी व्यक्ति का दृष्टिकोण इस विश्व के तरफ कैसा है ? वह इस विश्व को किस नजरिए से देखता है भाववादी या भोगवादी या उपयोगितावादी। यह उसकी दृष्टि पर आधारित है। गीता एक आस्तिक ग्रन्थ है इसमें मानव को ऊपर उठाने की बात की गयी है।

गीता के अनुसार जीवन का मुख्य उद्देश्य अधोलिखित है–

1. शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक तथा आत्मिक विकास।
2. प्रवृत्ति मार्ग एवं निवृत्ति मार्ग का संतुलन।
3. निष्काम कर्म योगी बनना है।

गीता के अनुसार मनुष्य के शारीरिक विकास के साथ उसका मन सद्गुणों से महान होना चाहिए तथा बुद्धि विचारों से श्रीमन्त होनी चाहिए। इसी के साथ उस व्यक्ति का आत्मिक सौन्दर्य भी खिलना चाहिए।

5.3 शिक्षा का प्रत्यय और उद्देश्य-

भारतीय वाङ्मय में शिक्षा के पर्यायवाची के रूप में विद्या तथा ज्ञान शब्दों का प्रयोग किया गया है। विद्या शब्द का उद्गम 'विद्' धातु से हुआ है। जिसका अर्थ होता है जानना, पता लगाना अथवा सीखना। बाद में विद्या शब्द पाठ्यक्रम के रूप में रूढ़ हो गया। आरम्भ में विद्या के अन्तर्गत चार विषयों का समावेश किया गया। कुछ समय पश्चात मनु ने आत्म विद्या नामक पंचम् विद्या का अन्तर्भाव किया और शनैः–शनैः विद्याओं की संख्या चौदह हो गयी है। जिनमें वेद, वेदांग, न्याय, मीमांसा आदि का समावेश कियागया। परन्तु मूलतः विद्या शब्द का अर्थ ज्ञातव्य के रूप में प्रचलित रहा।

अमरकोश में शिक्षा शब्द का प्रयोग इन्हीं षडवेदांगों में से एक वेदांग के लिए प्रयुक्त हुआ है। उस समय शिक्षा का प्रयोजन वेदों की रचनाओं का शुद्ध उच्चारण से लिया जाता था। कदाचित उस युग में वेदों का पठन–पाठन रहा होगा जो शिक्षा का एकमात्र उद्देश्य था। अतः शिक्षा शब्द स्वर शास्त्र के लिए रूढ़ बन गया। यदि शब्द की व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखा जाय तो शिक्षा शब्द का उद्गम ''शिक्ष्'' धातु से है शिक्षा का अर्थ होता है सीखना तथा प्रेरक रूप में प्रयुक्त होने पर इसका अर्थ सिखाना भी हो जाता है। रघुवंश में शिक्षा शब्द का प्रयोग उसी रूप में हुआ है।[1]

---

1. अमरकोश प्रथम खण्ड श्लोक–4

अशूच्च नम्रः प्रणिपात शिक्षया।

शिक्षा विशेपल सुहस्ततया निमेपात्तू।।[1]

षणीचकार शरंपूरितवस्त्ररन्ध्रान् ।[2]

भारतीय दर्शनों में ज्ञान शब्द का वही अर्थ होता है जो व्यापक अर्थों में शिक्षा का अर्थ होता है। भारतीय दर्शनों में मात्र सूचना या तथ्यों के लिए ज्ञान शब्द का प्रयोग नहीं होता है। अमर कोश में ज्ञान तथा विज्ञान का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि ज्ञान का विषय मुक्ति है जबकि विज्ञान का शिल्प शास्त्र है।

दूसरे शब्दों में "ज्ञान वह है जो मनुष्य को उन्नत स्तर तक पहुँचाता है तथा मुक्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है।" जबकि व्यवहारिक जीवन में प्रयोग के लिए जो कुछ जाना जाता है या सीखा जाता है वह विज्ञान कहलाता है।

हम शिक्षा शब्द का प्रयोग अनेक रूपों में तथा विभिन्न सन्दर्भों में करते हैं। एक ओर प्रयोजनवादी दार्शनिक जान डी.वी. तथा भारतीय शिक्षा विचारक महात्मा गांधी के अनुसार शिक्षा जीवन भर चलने वाली प्रक्रिया है तथा अनुभव के द्वारा हमारे व्यवहार में जो भी परिवर्तन आते हैं वे सभी शिक्षा के फलस्वरूप आते हैं। जान डी.वीर तो यहाँ तक कहता है कि शिक्षा का अर्थ ही अनुभवों का निर्माण एवं पुर्ननिर्माण है और इस दृष्टि से पाठशाला से बाहर भी जो अनुभव प्राप्त किये जाते हैं वे सभी शिक्षा के अंग हैं।

विभिन्न विद्वानों ने अपने–अपने दृष्टिकोण से शिक्षा की परिभाषा दी है। इन

1. रघुवंश सर्ग–2 श्लोक–25
2. रघुवंश सर्ग–9 श्लोक–63

सभी परिभाषाओं में भले ही अन्तर हो परन्तु सभी स्वीकार करते हैं कि शिक्षा मानव, देश, समाज और विश्व के उत्थान का सबल साधन है। शिक्षा, दर्शन का क्रियाशील पक्ष है। यह दार्शनिक चिन्तन का एक पहलू है। इस दृष्टि से शिक्षा ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपरिपक्व बालकों तथा युवाजनों को निर्धारित दिशा की ओर प्रगति करवाने में समाज के परिपक्वजन संकल्पयुक्त प्रयास करते हैं। इस सन्दर्भ में ब्राउडी की व्याख्या दृष्टव्य है।–"अतएव व्यापक तथा सामान्य अर्थों में शिक्षा अधिगम के मार्गदर्शन तथा नियंत्रण द्वारा अनुभव की पुनर्रचना करने का विशिष्ट प्रयास है।"[1]

इसी विचारधारा को जे.डी. बटलर ने और भी सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है–"शिक्षा ऐसी क्रिया अथवा अध्यवसाय है जिसमें मानव समाज के अधिक परिपक्वजन, कम परिपक्वजनों में अधिक परिपक्वता के लिए प्रयास करते हैं[2] तथा इस प्रकार मानव जीवन को अच्छा बनाने में योगदान करते हैं। इसी संदर्भ में जेन्टाइल और स्पेन्सर के भी मत महत्वपूर्ण है।

जेन्टाइल के अनुसार–"लोगों का यह विश्वास भ्रमपूर्ण है कि वे सूक्ष्म दार्शनिक समस्याओं को समझे बिना ही उत्तम रीति से शिक्षण कार्य प्रतिपादित कर सकते हैं। स्पेन्सर ने सच्ची शिक्षा उच्च दार्शनिक ही प्राप्त कर सकते हैं कहा है।"[3]

शिक्षा–दर्शन, दर्शन की वह शाखा है जिसमें दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन शिक्षा के संदर्भ में किया जाता है। शिक्षा की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के विकास व निर्माण

1. मोक्षे धी र्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयो, अमरकोश प्रथम खण्ड श्लोक–7
2. डा. लक्ष्मीलाल के ओड़–शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि पृ. 2
3. पंडित आद्यादत्त ठाकुर–वेदों में भारतीय संस्कृति, पृ. 289

में दर्शन का महत्वपूर्ण योगदान है। जिन समस्याओं का निराकरण शिक्षा के क्षेत्र में विज्ञान द्वारा सम्भव नहीं होता वह दर्शन के द्वारा शिक्षा में किया जाता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति में शक्ति का सम्पादन करना ही शिक्षा है। व्यक्ति को अपने में सामर्थ्य लाने के लिए स्वानुभव एवं परानुभव को ग्रहण करना शिक्षा शब्द रूढ़ि माना जाता है। ऋग्वेद में कहा गया है कि एक व्यक्ति वाक् देखते हुए भी नहीं देखता। सुनते हुए भी नहीं सुनता तथा दूसरे के लिए वाक् स्वयं अपनी रूप दिखलाता है।

समय की इस दीर्घ पृष्ठभूमि पर शिक्षा का स्वरुप सदैव परिवर्तित परिमार्जित और पुरिपुष्ट होता जा रहा है। वर्तमान काल में अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने शिक्षा के स्वरुप का निर्धारण अपने-अपने ढंग से किया है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार "मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है।[1] महान दार्शनिक अरस्तू के अनुसार स्वस्थ शरीर का निर्माण करना ही शिक्षा है। प्रसिद्ध शिक्षाविद पेस्तालाजी के अनुसार शिक्षा मनुष्य की समस्त शक्तियों का स्वाभाविक प्रगतिशील और विरोधहीन विकास है। थामसन के तो शिक्षा वातावरण के प्रभावों का एक समन्वित रूप है। जिसके द्वारा मनुष्य के आचार-विचार आदत तथा व्यवहारों को जाना जाता है।[2]

उपर्युक्त शिक्षा सम्बन्धित मान्यताओं के प्रकाश में हम कह सकते हैं कि शिक्षा

---

1. मैत्रेयुनिषद-2/22
2. शिक्षा-स्वामी विवेकानन्द प्रवचन माला।

समाज एवं राष्ट्र के विकास तथा उन्नति के लिए एक शक्तिशाली साधन के रूप में समझी जाती है इसने प्राचीनकाल से ही बालक की अन्तर्निहित शक्तियों के विकसित करने का कार्य किया है और सामर्थ्यवान बनकर उसमें दायित्व निर्वाह करने की क्षमता उत्पन्न की है। इसलिए भारतीय संस्कृति के उषाकाल में भी भारतीय शिक्षा का एक सुगठित रूप दिखलाई पड़ता है और सम्पूर्ण मनीषी एवं राजनीतिज्ञ शिक्षा के प्रति सचेष्ट रहे हैं समाज एवं राष्ट्र में शिक्षा के विकास के लिए कटिबद्ध रहते थे। इसीलिए प्राचीन काल में भी भारतीय समाज एवं संस्कृति तथा धर्म की जो उन्नति हुई वह आज भी हमारी पहुँच से बहुत दूर है निष्कर्ष रूप में यह सिद्ध होता की उन्नत जीवन यापन की क्षमता, कार्य पटुता और आध्यात्मिक विकास शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है।[1]

वेदान्त में श्रुतियों के पश्चात् स्मार्त प्रस्थान के रूप में भगवद्गीता की मान्यता है। उपनिषदों में चिंतन तो चर्मोत्कृष्टता पर अवश्य पहुँच गया था परन्तु उनके सिद्धान्त 'तत्वमसि' और 'तज्जज्ञान' जैसे वाक्यों में अभिव्यक्त होने के कारण रहस्यात्मक हो गये।[2] स्वयं उपनिषदों में ही उनके सिद्धांतों के लिए गुह्य आदेशों और परम गुह्य[3] आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। कठोपनिषद में आत्मविद्या के लिए "न ही सुविज्ञेय भण्डरेषु धर्मः[4] से उसकी गहनता का कथन है। छान्दोग्य उपनिषद में वेद्विद् श्वेतकेतु आरुणि द्वारा उसे बार बार उपदेश देने पर भी उनके उपदेश में बड़ी कठिनाई से ग्रहण करने में समर्थ हो

1. एस.के. अग्रवाल–शिक्षा के तात्विक सिद्धान्त, पृष्ठ–1
2. छान्दोग्य उपनिषद–3/5/2
3. श्वेताश्वतरपनिषद–6/22
4. कठोपनिषद् 1/1/2

पाते हैं इसके अतिरिक्त उपनिषद सिद्धांतों की अपनी एक गम्भीरता है इस कारण और भी समस्या बढ़ जाती है कि उनमें साधनों के रूप में एक सुनिश्चित और सुव्यवस्थित क्रम का अभाव (साधन क्रम का उपनिषदों में जिस रूप में विवेचन है उसका अनुसरण करना, एकान्त आश्रमों निर्द्वन्द शान्ति में रहने वाले, प्राचीन ऋषियों के लिए तो सम्भव था परन्तु गृहस्थ कर्म निमग्न रहने वाले साधारण जन के लिए कठिन थे।

अतः आवश्यकता थी एक ऐसे ग्रन्थ की जो आत्म विद्या के श्वेत धवल रूप से और अमृतमय स्वाद से परितृप्त करना। "भगवद्गीता उपनिषदों का इसी प्रकार का लोकानुकूल संस्करण है। भगवद्गीता मनुष्य के कर्तव्या–कर्तव्यों एवं उनके मापदण्डों का सर्वग्राही मनोहारी एवं व्यंजक शैली जैसा प्रतिष्ठापन एवं विवेचन करती है। वैसा अन्य भारतीय ग्रन्थों में तो क्या समग्र विश्व साहित्य में भी उपलब्ध नहीं है।"[1]

भगवद्गीता में प्रस्थापित तथ्यों का महत्व आज भी पूर्ववत बना हुआ है क्योंकि धर्म के उस विश्व जनीन रूप को प्रस्तुत करती है जो देश और काल की सीमाओं से परे है।[2] गीता के दूसरे अध्याय से गीता की शिक्षा का आरम्भ होता है और प्रारम्भ में ही श्रीकृष्ण जीवन के महासिद्धान्त बता रहे हैं जिसका आशय है कि प्रारम्भ में ही जीवन के वे मुख्य तत्व दृष्टिगोचर हो जाय और सबके मस्तिष्क में रम जाये जिनके आधार पर जीवन का भवन खड़ा है या करना है तो उल्लेख मार्ग सरल हो जाएगा। गीता में ही सांख्य बुद्धि शब्द का अर्थ जीवन के मूलभूत सिद्धांत से लिया गया है। इन मूल सिद्धांतों

---

1. लोकामन्य तिलक–गीता रहस्य पेज–64
2. श्री विनोवा भावे–गीता प्रवचन पृष्ठ–19

को हम जब तब सांख्य शब्द के प्रसंग से गीता के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ का थोड़ा स्पष्टीकरण न कर लें तब तक उपर्युक्त न होगा। श्री विनोवाभावे के शब्दों में – "गीता पुराने शास्त्रीय शब्दों को नए अर्थो में प्रयुक्त करने की आदी है। पुराने शब्दों पर नये अर्थ की कलम लगाना विचार की अहिंसक प्रक्रिया है व्यासदेव इस प्रक्रिया में सिद्धहस्त हैं इसलिए गीता के शब्दों को व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही, एवं उनके विचारक अपनी–अपनी आवश्यकता और अनुभव के अनुसार अनेक अर्थ ले सके।

विनोवाजी ने गीता की परिभाषा करते हुए कहा है कि – "जीवन के सिद्धांतों को व्यवहार में लाने की जो कला या युक्ति है उसी को योग कहते हैं। सांख्य का अर्थ है सिद्धांत अथवा शास्त्र, और योग का अर्थ है कला। गीता सांख्य और योग दोनों से परिपूर्ण है और शास्त्र और कला दोनों के योग से जीवन सौन्दर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवाई महल है। इसलिए गीता उपनिषदों का भी उपनिषद है और अनुभवी पुरुषों ने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्म का एक कोष है।[1]

महात्मा गाँधी ने गीता की परिभाषा करते हुए लिखा है– गीता जीती जागती जीवन देने वाली अमर माता है।[2] और लोकमान्य तिलक ने गीता के विषय में अपने निम्न वचनों का उल्लेख किया है– "गीता हमारे धर्म ग्रन्थ का एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है।"[3] अगर हम इन महानुरुषों की दी हुई परिभाषाओं पर विचार करें तो ऐसा लगता है कि गीता धर्म दर्शन का कोष है।

1. गोपाल लल वर्मन–लोकप्रिय गीता पृष्ठ 6/28
2. महात्मा गांधी–अनासाक्त योग पृष्ठ–6
3. तिलक–गीता रहस्य पृष्ठ–4

गीता आत्मा की उलझन को सुलझाने वाली प्रचण्ड शक्ति है दीन दुखियों का आधार है और सोते को जगाने वाली क्योंकि हमें कर्तव्य और अकर्तव्य का ज्ञान कराती है।

गीता हिन्दू दर्शन और नीतिशास्त्र के सबसे प्रामाणिक ग्रन्थों में से एक है और सभी सम्प्रदायों ने उसे इस रूप में स्वीकार किया है।

गाँधी जी के शब्दों में—"जब मेरा मन संदेहों के कुहासों से घिर जाता है या मेरी आँखों के सामने निराशा का अँधेरा छा जाता है जब मुझे क्षितिज पर प्रकाश की एक भी किरण दिखाई नहीं देती उस समय में भगवद् गीता का सहारा लेता हूँ। उसमें मुझे हमेशा ऐसा कोई वचन मिल जाता है जिससे मुझे सात्वना मिलती है और मैं तत्काल कुचल डालने वाले दुःख के बीच में भी मुस्कराने लगता हूँ। मेरा जीवन बाहरी दुःखदायी घटनाओं से भरा रहा है और यदि उन्होंने मेरे ऊपर कोई खास असर नहीं छोड़ा है तो इनका एक भाव श्रेय भगवद्गीता की शिक्षा को है।

इस प्रकार परिभाषा की दृष्टि से गीता जन–जन में प्रेरणा देने वाली और कर्म सिद्धांत को सतत चेताने वाली एक तात्विक निधि है। एपीम्यूरियन और हंटोइक पंथों के यूनानी पंडितों का यह कथन भी गीता ग्राह्य है कि पूर्ण अवस्था में पहुँचे हुए ज्ञानी पुरुष का व्यवहार ही नीति दृष्ट्या सबके लिए आर्दश के समान प्रमाण है, और इन पंथ वालों ने परम ज्ञानी पुरुष का जो वर्णन किया है वह गीता की ही स्थिति अवस्था वाले वर्णन के समान हैं। मिल स्पेन्सर और कॉट प्रभूति आदि भक्ति वादियों का कथन है कि नीति की पराकाष्ठा अथवा कसौटी यही है कि प्रत्येक मनुष्य को सारी मानव जाति के हितार्थ उद्योग करना चाहिए।

गीता में स्थित प्रज्ञ के "सर्वभूतहिते रताः" इस वाङमय लक्षण में उक्त कसौटी में भी समावेश हो गया है और कान्ट और ग्रीन का नीतिशास्त्र की उत्पत्ति विषयक तथा इच्छा स्वतंत्रता सम्बन्धी सिद्धांत की उपनिषदों के ज्ञान के आधार पर गीता में आ गया है। गीता इतने से ही संतुष्ट होकर नहीं कहती है ब्रह्म विद्या का और भक्ति का जो मूल तत्व है वही नीति और सत् कर्म का भी आधार है।

आध्यात्मिक साहित्य में भारत वर्ष का जो स्थान है वहाँ तक विश्व का कोई देश अब तक पहुँच ही नहीं पाया है गीता महाभारत का एक अंश है, और ब्रह्म सूत्र उपनिषद जैसे अमर साहित्य का निचोड़ है, क्योंकि गीता हिन्दू धर्म की सारभूत बातों का एक कोष है। गीता महात्म्य में इस विषय में एक सुन्दर श्लोक देखने को मिलता है।

सर्वेपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः।

पार्थो वत्स सुधी भोक्ता दुग्धं गीता मृतं महत।।[1]

सम्पूर्ण उपनिषदें गौ हैं श्री कृष्ण गोपाल दुहने वाले हैं दुहने के लिए गौ को बछड़े की आवश्यकता होती है इस तरह उपनिषद रुपी गौवों से गीता रुपी अमृत को दुहा गया। जिसके भोक्ता सुधीजन है।[2]

गीता की शिक्षा का अर्थ या गीता की दृष्टि से शिक्षा और उद्देश्य–

श्रीमद्भगवद गीता के अनुसार साधारण मनुष्य का जीवन सुखमय नहीं है। यह जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःखों के दोषों से पूर्ण है।[3] इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होने

---

1. गोपाल लाल वर्मन–लोकप्रिय गीता पृष्ठ–45
2. गीता माहात्म्य, श्लोक–1
3. इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
   जन्ममृत्यु जराव्याधि दुःख दोषानुदर्शनम्।। (गीता अ० 13 श्लोक–8)

वाले जितने भोग हैं वह सब सुखदायक नही है तथा अनित्य हैं बुद्धिमान पुरुष उनमें मन नहीं लगता।[1] इन्द्रियों में लिप्त रहने से प्राणी को बार–बार जन्ममरण के चक्कर में फँसना पड़ता है। इन्द्रिय विषयों की ओर प्रवृत्त होने का परिणाम दुःखदायी होता है।[2] इन सब कारणों से सांसारिक जीवन मनुष्य के लिय कल्याण कारी नहीं है। गीता के अनुसार मनुष्य जीवन का लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति है। यही मनुष्य का परम प्राप्त पद है। इसे प्राप्त करने से ही अत्यन्त सुख और शान्ति का लाभ होता है। ब्राह्मी स्थिति का वर्णन गीता में भिन्न–भिन्न स्थानों पर भिन्न–भिन्न रूपों में हुआ है। जैसे सनातन ब्रह्म को पालना[3], परम तत्व को पालना[4], भगवद्भाव को प्राप्त कर लेना[5], भगवान के पास पहुँच जाना[6], ब्रह्म में लीन हो जाना[7], ब्रह्म में स्थित हो जाना[8], ब्रह्म को भली भाँति छू

1. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
   आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते वुधः।। (गीता अ० 5 श्लोक–22)
2. क्रोधाम्दवति सम्मोहः सममोहात्स्मृतिविभ्रमः।
   स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।। (गीता अ० 2 श्लोक–63)
   या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
   यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।। (गीता अ० 2 श्लोक–69)
3. यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
   नायं लोकोऽस्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तमः।। (गीता अ० 4 श्लोक–31)
4. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
   असक्तो ह्याचरन्कर्म पमाप्नोति पूरुषः।। (गीता अ० 3 श्लोक–19)
5. योऽन्त सुखोऽन्तरारामस्त थान्त र्ज्योतिरेव यः।
   स योगी ब्रह्म निर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।। (गीता अ० 5 श्लोक–24)
6. जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः।
   त्यक्त्व देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।। (गीता अ० 4 श्लोक–9)
7. कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेत साम्।
   अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्।। (गीता अ० 5 श्लोक–26)
8. युज्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगत कल्मषः।
   सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।। (गीता अ० 6 श्लोक–28)

लेना[1], निष्फलक ब्रह्म रूप हो जाना[2], सब में पूर्ण और चरम अवस्था को प्राप्त कर लेना आदि–आदि।

इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर आत्मा पुनर्जन्म के बंधन से पूर्णतः मुक्त हो जाता है।[3] जिस शान्ति के लिए मनुष्य लालायित है उस परम और स्थिर शान्ति का अनुभव केवल ब्राह्मी स्थिति में होता है।[4] इस अवस्था में केवल दुःख निवृत्ति ही नहीं अक्षय और सर्वोत्तम सुख की प्राप्ति भी होती है।

भगवद् गीता में ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनेक मार्गों का निर्देशन किया गया है। उनमें मुख्य हैं–ज्ञान मार्ग, कर्म मार्ग, भक्ति मार्ग, योग मार्ग। व्यक्ति अपनी रुचि और गुणों के अनुसार किसी भी मार्ग को अपना सकता है।

गीता का सबसे अद्भुत उपदेश है–"निष्काम कर्म। फल में अनासक्ति रखते हुए कर्मों का सम्पादन करने से उनके गुण दोषों को भोगने के लिए मनुष्य उत्तरदायी नहीं है। कर्मों के शुभाशुभ फलों से बचने का एकमात्र उपाय निष्काम कर्म है, कर्मों के सम्पूर्ण त्याग से सिद्धि प्राप्त नहीं होती, क्योंकि कोई भी पुरुष किसी भी काल में क्षण मात्र भी

1. प्रशान्तमनसं होनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
   उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभतमकल्मषम्।। (गीता अ० 6 श्लोक–27)
2. वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैन, दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
   अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा, योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्। (गीता अ० 8 श्लोक–28)
3. कर्मजं बुद्धि युक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
   जन्मबन्ध विनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।। (गीता० 2 श्लोक–51)
4. विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृह।
   निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।। (गीता अध्याय 2 श्लोक–71)
   एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
   स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।। (गीता अध्याय 2 श्लोक–72)

बिना कोई कर्म किए नहीं रह सकता। निःसंदेह सब लोग अपनी प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर कर्म करते हैं।

गीता की नीति यह है कि कर्तव्य कर्म, का जिसका निश्चय गुण और स्वभाव के आधार पर बनी हुई वर्ण व्यवस्थानुसार भगवान ने सब प्राणियों के हित के निमित्त किया है सदा पालन करना चाहिए। जगत की उत्पत्ति और व्यवस्था करने वाले भगवान का अंश आत्मा रूप में हमारे अन्दर स्थित है। कर्म व्यक्तिगत सुख और भोग के लिए नहीं किन्तु लोक कल्याण की भावना से करना चाहिए ऐसा करने से मनुष्य उच्च से उच्च गति प्राप्त कर सकता है। आत्म ज्ञान, भगवद भक्ति, लोकहित और भगवान की प्रसन्नता के लिए कर्मफल से अनासक्त होकर यज्ञभाव से कर्तव्यों को करना, मनुष्य के लिए जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के उपाय है।

गीता में दो प्रकार की सम्पदा युक्त पुरुषों का वर्णन मिलता है—दैवी सम्पदा और आसुरी सम्पदा। दैवी सम्पदा से युक्त पुरुष के लक्षण हैं—निर्भीकता, मन की स्वच्छता, ज्ञान योग में निरन्तर स्थिति, दान इन्द्रिय संयम आदि।[1] तेज, क्षमा, धैर्य, बाहर की शुद्धि एवं किसी में भी शत्रुभाव का न होना और अपने में पूज्यता के अभिमान का अभाव।[2]

पाखण्ड, घमण्ड, अभिमान, क्रोध और अज्ञान यह सब आसुरी सम्पदा को प्राप्त हुए पुरुष के लक्षण हैं।[3]

1. **अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञान योगव्यवस्थितिः।**
   दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। (गीता अ० 16 श्लोक–1)
2. **तेजः क्षमा धृतिः शौचम द्रोहो नाति मानिता।**
   भवन्ति संपदं दैवीभांमजातस्य भारत। (गीता अध्याय 16 श्लोक–3)
3. **दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।**
   अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।। (गीता अ० 16 श्लोक–4)

कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में निर्देश शास्त्रों से प्राप्त करना चाहिए। काम, क्रोध और लोभ के वश में होकर मनमाने और विधिहीन कर्म नहीं करने चाहिए। शास्त्र ही हमको कर्तव्यों का उपदेश देते हैं जो पुरुष शास्त्रों की विधि को त्यागकर अपनी इच्छानुसार काम करता है वह न तो सिद्धि को प्राप्त होता है न सुख और न परमगति को। कर्तव्य, अकर्तव्य की व्यवस्था से शास्त्र ही प्रमाण करना चाहिए।[1]

भगवद् गीता श्रीकृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र युद्ध में अर्जुन को दिया गया उपदेश है। यह वेदान्त दर्शन का सार है। यह अत्यन्त परम आदरणीय ग्रन्थ है। यह योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को बछड़ा बनाकर उपनिषद रूपी गायों से दुहा गया अमृतमय दूध है जिसे सुधीजन पीते हैं।[2] यह महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी अत्यन्त प्रशंसा करते हुए इसे 'मानव धर्म ग्रन्थ' बतलाया है। इसकी तुलना कामधेनु और कल्पवृक्ष से की गयी है। महात्मा गांधी ने गीता को जगतमाता की संज्ञा दी है जिसके द्वार सदा सबके लिए खुले हैं श्रीमती ऐनी बेसेन्ट के अनुसार–''गीता साधक को सन्यास के उस निम्न स्तर से जहाँ पदार्थों का तथा कर्मों का त्याग किया जाता है निष्काम कर्मयोग के उस उच्च स्तर पर ले जाती है जहाँ कामना और आसक्ति का त्याग किया जाता है और जहाँ योगी समाधिस्थ होते हुए भी शरीर और मन से लोक त्याण के लिए कार्य करते हैं।''

1. यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
   न स सिद्धिमवाप्रेति न सुखं न परां गतिम्। (गीता अ० 16 श्लोक–23)
   तस्माच्छास्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ।
   ज्ञात्वा शास्त्रविधनोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।। (श्रीमद् भागवद गीता अ० 16 अश्लोक–24)
2. सर्वोपनिषद्धे गावो दोग्धाः गोपालनन्दनः।
   पार्थो वत्सः सुधी भोक्ता दुग्धं गीता मृतं महत्। (श्रीमद् भागवद् माहात्म्य श्लोक–6)

यह प्रत्येक देश–काल जाति धर्म के मनुष्य के लिए ग्राह्य है। आज का मानव भौतिक भोग लिप्साओं में भटकता हुआ अपने लक्ष्य से विमुख हो गया है। इस भटकती हुयी मानवता को कर्तव्य कर्मों को करते हुए उनके फलों के प्रति अनासक्त भाव रखने, निष्काम कर्म की सतत् साधना करने की दृष्टि गीता के उपदेश से ही उपलब्ध हो सकेगी। ऐसी दृष्टि मनुष्य के लक्ष्य प्राप्ति में सहायक होगी। कर्म के बिना एक क्षण भी नहीं रहा जा सकता, अतः कर्म से विमुख होने की उपेक्षा कर्म फल से विमुख होना ही गीता द्वारा श्रेयस्कर माना गया है।

गीता हमारी भारतीय संस्कृति की अमूल्य विरासत है। गीता में श्रीकृष्ण ने जीवन के सिद्धान्तों को गाया है। गेय होने के कारण इसे गीता कहते हैं। इसमें जीव, जगत, जगदीश के बारे में विस्तृत चर्चा की गयी है।

गीता के उपदेश सर्वग्राही हैं। यह एक प्रत्यक्ष आचार शास्त्र है। इसमें मानव से महामानव बनने की कला बतायी है। जीने का मंत्र सरल अर्थों में बताया गया है।

गीता की शिक्षा एवं उद्देश्य वर्तमान परिवेश के लिए अत्यन्त प्रासंगिक हैं। यदि हमारी वर्तमान पीढ़ी गीता के विचारों के साथ जीवन जिये तथा आदर्शों को माने तो हमारे भारतवर्ष में एक नया प्रकाश आ सकता है।

गीता के दर्शन के आधार पर शिक्षा के अधोलिखित उद्देश्य हो सकते हैं–

1. समग्र जीव जगत में निहित आत्म तत्व की अनुभूति कराना।
2. समस्त मानव जाति की प्रज्ञा स्थिर करना।
3. निष्काम कर्म करने की भावना जागृत करना।

4. आत्मा की अमरता की अनुभूति करना।

5. सृष्टि की तरफ दैवी दृष्टि विकसित करना।

6. सतोगुणी व्यक्तित्व बनने पर बल।

7. मन को नियंत्रित करने की शिक्षा पर बल आदि।

गीता का ऐसा स्पष्ट उपदेश है कि सभी प्राणियों मे परमात्मा का अंश है इसके संदर्भ में गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–"ममैवांशो जीवलोके"[1] यह जीव मेरा ही अंश है। जैसे सम्पूर्ण समुद्र परमात्मा का प्रतीक है और उसकी एक बूँद जीवात्मा है। गीता का यह स्पष्ट संदेश है कि यह समस्त विश्व जो संचालित है इसके पीछे एक आत्म तत्व है। उस आत्म तत्व की अनुभूति मानव को होनी चाहिए।

चूँकि गीता एक आध्यात्मिक धर्म ग्रन्थ है। उसमें विश्व की एक सूत्रता की बात की गयी है। मानव के अन्दर जो दैवी अंश है उस आत्म तत्व की अनुभूति मानव जाति को होनी चाहिए तभी वह नैतिक बनेगा नैतिक आचरण कर सकेगा।

आज वर्तमान परिवेश में जो नैराश्यपूर्ण स्थिति बनी हुयी है। उसमें गीता आशावाद खड़ी करती है कि मनुष्य को अपने असली स्वरूप की अनुभूति होनी चाहिए। तभी वह अपने कर्तव्यों के प्रति जागृत रहेगा और तभी वह एक आदर्श नागरिक की भूमिका निभा सकता है।

गीता का यह स्पष्ट करना है कि व्यक्ति जब नैतिक होगा अपने जिम्मेदारियों को प्रामाणिकता के साथ निभायेगा तभी वह आत्म तत्व की अनुभूति कर सकता है। गीता अपने कर्तव्य कर्मों से भांगने का उपदेश नहीं देती बल्कि यह कहती है–"सुख–दुःखे

1. श्रीमद् भगवद् गीता अध्याय–15 श्लोक–24

समेकृत्वालाभालाभौ जयाजयौ"[1] सुख–दुःख में समवृत्ति टिकाकर अपने दायित्व को संभालो। जिसे जो कार्य इस सृष्टि में करने को मिला है उसे वह प्रामाणिकता से करके दिखाये तभी वह गीता की दृष्टि में मनुष्य में है।

इस जगत में जब आत्म तत्व सर्वत्र है। तब इस सृष्टि में पराया कोई नहीं है। गीता विविधता में एकता के दर्शन की बात करती है यह जो विश्व है इसमें जो भाँति–भाँति के लोग हैं इन सब को संचालित करने वाली एक ही सत्ता है ऐसा बोध होने पर हमारे वर्तमान समाज में जो ईर्ष्या, वैमनस्थ के कारण जो दूरियाँ हैं वे धीरे–धीरे कम होती जाएगी और मानव में एक विशेष दृष्टि का विकास होता जाएगा।

गीता व्यक्ति के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करती है कि तुम आदर्शवादी बनो। जीवन में आदर्श लेकर जिओ और वह आदर्श तुम्हारे व्यावहारिक जीवन में उतरना चाहिए। गीता कथनी–करनी में अन्तर नहीं करती। वास्तव में आज की परिस्थिति में गीता के दर्शन की नितान्त आवश्यकता है। इस संदेश के माध्यम से हमारे शिक्षा जगत में एक नया प्रकाश आयेगा। इससे जो एक नैराश्यपूर्ण स्थिति बनी हुयी है उसमें सुधार होगा।

गीता का दूसरा उद्देश्य है समस्त मानव जाति की प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर करना। आज हमारी युवा पीढ़ी की बुद्धि स्थिर नहीं है उसमें कई संशय हैं कई संकल्प विकल्प हैं। वह अपने लक्ष्य के प्रति एकाग्र नहीं है। वह किसी निर्णय को आज स्वीकारता है और कल उसे छोड़ देता है। उसमें स्थिर चित्त की मनोवृत्ति का अभाव दिखाई देता है। वह

1. **श्रीमद् भगवद् गीता अ० 2 श्लोक–38**

सर्वत्र उद्देश्य रहित होकर भटक रहा है। ऐसी परिस्थिति में स्थित प्रज्ञ व्यक्ति के लिए एक आदर्श है। गीता विद्यार्थियों में शिक्षकों में सभी प्राणियों में एक लक्ष्य की एकाग्रता देखना पसन्द करती है। समस्त मानव जाति के समक्ष गीता एक लक्ष्य देकर उसकी मनोवृत्ति को बुद्धि को स्थिर करना चाहता है।

तीसरा लक्ष्य गीता का निष्काम कर्म योगी बनाना है। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं–''यज्ञार्थों कर्मणो यत्र लोकोयं कर्म बन्धन''[1] यज्ञ के निमित्त के अतिरिक्त अन्य कार्यों में लगे हुए की बुद्धि कर्म बन्धन में फंस जाती है। उसमें निष्काम भाव नहीं आ पाता। गीता विद्यार्थी को एक शिक्षक द्वारा निष्काम वृत्ति को विकसित करने की बात करती है।

निष्काम कर्म योग का पालन करने से अनेक लाभ होते हैं क्योंकि इसमें फल के निमित्त कार्य नहीं किया जाता बल्कि कर्तव्य को करते हुए फल को ईश्वरार्पण कर दिया जाता है। इससे व्यक्ति में हताशा, निराशा आदि नहीं होता है।

आज के परिवेश में गीता के निष्काम कर्म योग से ही हमारे शैक्षिक जगत में परिवर्तन आ सकता है। जो आज चाहे वह शिक्षक हो या विद्यार्थी हो हर व्यक्ति अपने कर्तव्य कर्मों को छोड़ बैठा है ऐसी परिस्थिति में गीता का निष्काम कर्म योग ही समाज को स्वस्थ एवं समाधानी बना सकता है। क्योंकि गीता का यह श्लोक विश्व के सभी प्राणियों के लिए प्रेरणा स्रोत है।

---

1. **यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोयं कर्मबन्धनः।**
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर। (गीता अध्याय 2 श्लोक–16)

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफल हेतु भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व कर्मणि।।

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है उसके फलों में नहीं।[1]

गीता के अनुसार यह देह विनाशशील है, परिवर्तनशील है लेकिन आत्मा अजर अमर है, उसका कभी विनाश नहीं होता ऐसी तत्वनिष्ठा व्यक्तियों में गीता खड़ी करती है। आत्मा की अमरता, यह शिक्षा देती है कि सब कुछ नाशवान है लेकिन यह आत्मतत्व कभी नष्ट नहीं होता यानी जो भी हम कुछ अच्छा कर्म करते हैं वह सब अलगे जन्म में नए शरीर में प्राप्त होता है। आत्मा की अमरता को यदि हम शैक्षिक निहितार्थ की दृष्टि से देखें तो इससे व्यक्ति नैतिक बनेगा, ईमानदार बनेगा और कर्तव्यनिष्ठ बनेगा।

गीता का पाँचवा उद्देश्य है कि इस विश्व की तरफ समस्त मानव समुदाय दैवी दृष्टि से देखें। इस दृष्टि को विकसित करने में गीता श्रीकृष्ण ने विभूति योग का उपदेश दिया है कि सर्वप्रथम कहाँ–कहाँ दैवी दृष्टि को विकसित करना है। क्योंकि इस विभूति के माध्यम से ही व्यक्ति का दृष्टिकोण पवित्र होगा निःस्वार्थ होगा। तभी वह इस विश्व के प्रति अपने देश के प्रति अपने कर्तव्यों, कर्मों के प्रति निःस्वार्थ वृत्ति से कार्य कर सकता है।

आज हमारे देश में लोगों की दृष्टि हर वस्तु के पीछे यहाँ तक की शिक्षा के प्रति भी आर्थिक या भोगवादी हो गयी है। इसके अलावा अन्य कोई दृष्टि नहीं है। जब तक व्यक्ति में पवित्र दृष्टि नहीं होती निःस्वार्थ वृत्ति की दृष्टि नहीं होती तब तक उसका मानसिक बौद्धिक एवं आत्मिक विकास सही रूप में नहीं हो पाता है।

1. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 2 श्लोक–47

दैवी दृष्टि को विकसित करना यह गीता का आग्रह है। इस दृष्टि से हमारे शिक्षा जगत में अनेक लाभ होंगे जैसे–गुरू शिष्य में निःस्वार्थ प्रेम होगा, ज्ञान के प्रति आदर होगा, एक दूसरे पर निष्ठा होगी इस दृष्टि से अनेक लाभ होंगे, सारे सम्बन्धों में पवित्रता होगी और इस सृष्टि के प्रति अपनी संस्कृति के प्रति आदर भाव खड़ा होगा और ऐसा आदर भाव ही अतिशय पवित्र माना जाएगा। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमद्दूर्जितमेव वा।

तत्त देवा व गच्छ ममतेजो सम्भवम्।।

इस सृष्टि में जहाँ भी कोई गुण है, शक्ति है, प्रतिभा है उसे सब मेरा अंश समझो।[1]

ऐसी व्यापक एवं दैवी दृष्टि विकसित करने की बात गीता करती है।

सतोगुण को विकसित करने की बात गीता करती है। एक सतोगुणी व्यक्ति या शिक्षक या विद्यार्थी देश के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण होता है।

गीता सतोगुण विकसित करने की अपेक्षा रखती है इससे हमारे देश अच्छे–अच्छे शिक्षक, मनीषी, चिंतक होंगे जो अपने राष्ट्र का विकास कर सकते हैं। सतोगुणी व्यक्ति कैसे बने इस पर श्रीकृष्ण ने गीता में काफी व्यापक ढंग से चर्चा किया है। एक सतोगुणी व्यक्तित्वहो। इस विश्व के बारे में, इस विश्व के संचालक के बारे में चिन्तन कर सकता है। वह अन्तर्मुखी स्वभाव का चिंतनशील व्यक्ति होता है।

हमारे देश में जितने भी महान व्यक्ति हुए हैं उनमें सतोगुणी वृत्ति थे जैसे–महात्मा

1. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 10 श्लोक–41

गांधी, विनोवा भावे, डा. राधाकृष्णनन आदि महापुरुषों में यह महानता सतोगुण के कारण आयी।

कोई भी राष्ट्र या देश कब महान बनता है जब वहाँ के लोगों में चरित्र सम्पन्नता हो, तत्व निष्ठाहो और अपने कर्तव्य कर्मों के प्रति आस्था हो तभी वह देश महान बन सकता है तो ऐसी सात्विक दृष्टि विकसित करने की बात गीता करती है।

मन को नियंत्रित करने पर गीता का विशेष आग्रह है। सारी सफलता मन की एकाग्रता पर निर्भर है सब कुछ हो और एकाग्रता न हो फिर सफलता नहीं मिल सकती।

आज हमारे देश में जो शिथिलता दृष्टिगोचर होती है उसका परिणाम यहीं हैं कि अपने लक्ष्य के प्रति बहुत ही कम लोगों का मन एकाग्र है।

दूसरी बात यह है कि मन के केन्द्रीकरण से व्यक्ति में प्रतिभा जागृत होती है। उसमें ऊर्जा का संचार होता है उसमें मनोनिग्रह सहज होता है उसे इन्द्रियाँ हैरान नहीं करती हैं वह विषयोपभोग का गुलाम नहीं बनता।

गीता में बताया गया है कि सारी समस्याओं का मूल मन ही है—'मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः' यानी मन ही बन्धन या मोक्ष का कारण होता है। इसलिए इस मन का पवित्रीकरण शुद्धीकरण कैसे किया जाय ? इस पर गीता निर्देश देती है जब कृष्ण से अर्जुन कहते हैं कि यह मान बहुत प्रमथन स्वभाव वाला है, हटी है यह बस में नहीं होता है तब श्रीकृष्ण कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनोदुर्निग्रहं चलं।

अभ्यासेन तू कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।

अर्थात् यह मन निःसंदेह चंचल है यह कठिनता से बस में होने वाला है लेकिन हे अर्जुन यह अभ्यास एवं वैराग्य से वश में होता है।[1]

5.4. पाठयक्रम-

उपनिषद के समान गीता में भी पाठ्यक्रय को दो भागों में विभक्त किया है—एक को अपरा विद्या कहा गया है तथा दूसरे को भाग को ''परा विद्या'' की संज्ञा दी गयी है। अपरा विद्या के अन्तर्गत भौतिक जगत का ज्ञान आता है जिसे शरीर, इन्द्रिय तथा मन की सहायता से प्राप्त किया जाता है। भूमि, जल, अग्नि, वायु, प्रकाश तथा इन्हें जानने के उपादान मन एवं बुद्धि ये सभी ''अपरा विद्या'' के अंग है। गीता में ''अपरा विद्या'' को ''पराविद्या'' से हीनतर कहा गया है क्योंकि इन सबके पीछे छिपा हुआ ब्रह्म ही सर्वोपरि है।

''अपरा विद्या'' को ही सब कुछ मान लेने से शिक्षा की परिणति नही हो जाती है। ''अपरा विद्या'' ''परा विद्या'' की प्राप्ति के लिए साधन होनी साध्य नहीं। ''अपरा विद्या'' को प्राप्त करते समय उसकी अस्थिरता तथा अपूर्णता की ओर छात्र का ध्यान आकृष्ट करना आवश्यक है। इसके साथ ही भूमि, जल आदि के पीछे निहित चेतन सत्ता अथवा ब्रह्म की अनुभूति का प्रयास करना चाहिए।

''अपरा विद्या'' के अन्तर्गत सभी प्रकार के विज्ञानों का अध्ययन तथा मन एवं बुद्धि से प्राप्त अनुभवात्मक ज्ञान (Empirical Knowledge) आता है।

''परा विद्या'' के अन्तर्गत आत्मज्ञान आता है। यह ज्ञान, नित्य, पूर्ण तथा सनातन

---

1. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 6 श्लोक–35

है। अपरा प्रकृति के उपादान के पीछे पर ब्रह्म ईश्वर की सत्ता विद्यमान है यही "पराविद्या" का सार है। गीता के सातवें अध्याय में इसे सार रूप में प्रस्तुत किया गया है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकृति रष्टधा।।
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।
एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युप धारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।
मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इब।।
रसोडहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशि सूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।
पुण्यो गन्ध पृथिव्यां च तेजश्चाश्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।
बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।

(गीता अ० 7 श्लोक 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10)

गीता में श्री कृष्ण कहते हैं–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और

1. श्रीमद्भगवद्गीता अ० 7 श्लोक 4, 5, 6, 7, 8, 9, 10

अहंकार भी इस प्रकार यह आठ प्रकार से विभाजित मेरी प्रकृति है। यह आठ प्रकार के भेदों वाली तो अपरा अर्थात मेरी जड़ प्रकृति है और है महाबाहो! इससे दूसरी को, जिससे यह सम्पूर्ण जगत धारण किया जाता है, मेरी जीवरुपा परा अर्थात चेतन प्रकृति जाना।। 4–5।।

हे अर्जुन ! तू ऐसा समझ कि सम्पूर्ण भूत इन दोनों प्रकृतियों से ही उत्पन्न होने वाले हैं और मैं सम्पूर्ण जगत् का उद्‌भव तथा प्रलय हूँ अर्थात् सम्पूर्ण जगत का मूल कारण हूँ।।6।।

हे धनंजय ! मुझसे भिन्न दूसरा कोई भी परम कारण नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत् सूत्र में मणियों के सदृश मुझमें गुँथा हुआ है।।7।।

हे अर्जुन ! मैं जल में रस हूँ चन्द्रमा और सूर्य में प्रकाश हूँ, सम्पूर्ण वेदों में ओंकार हूँ, आकाश में शब्द और पुरुषों में पुरुषत्व हूँ।।8।।

मैं पृथ्वी में पवित्र गन्ध और अग्नि में तेज हूँ तथा सम्पूर्ण भूतों में उनका जीवन हूँ और तपस्वियों में तप हूँ।।9।।

हे अर्जुन ! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज मुझको ही जान। मैं बुद्धिमानों की बुद्धि और तेजस्वियों का तेज हूँ।। 10।।

हे भरत श्रेष्ठ ! मैं बलवानों का आसक्ति और कामनाओं से रहित बल अर्थात् सामर्थ्य हूँ और सब भूतों में धर्म के अनुकूल अर्थात शास्त्र के अनुकूल काम हूँ।। 11।।

शिक्षा का पाठ्यक्रम शैक्षिक उद्देश्यों तक पहुँचने का मार्ग है। "अपराविद्या" के माध्यम से जगत् के पीछे निहित चेतन सत्ता की अनुभूति करवाने के लिए विज्ञान, समाज शास्त्र, साहित्य, कला, उद्योग सभी सहायक होते हैं। केवल दृष्टि स्पष्ट होनी चाहिए

कि छात्र जगत का अध्ययन करते हुए भी उसी को पूर्ण न मानकर उसके पीछे निहित चैतन्य सत्ता को समझें, समाज को ही पूर्ण न मानकर उसके पीछे निहित ईश्वरीय शक्ति को स्वीकार करें तथा हाड़मांस के बने हुये इस शरीर को सर्वस्य न मानकर इसमें निहित उस दैवी सत्ता को पहचानें।

उद्देश्य, मूल्य तथा अवस्थाओं के अनुरुप पाठ्यक्रम

विद्या का स्वरूप	उद्देश्य	पुरुषार्थ	पाठ्यक्रम	पाठ्य विषय
अपरा	अन्नमय कोष	काम/अर्थ	1. भौतिक सृष्टि का अध्ययन 2. भौतिक उत्पादन की शिक्षा 3. अजीविका के लिए शिक्षा	भौतिक शास्त्र, रसा. शास्त्र नक्षत्र विद्या तथा अन्य भौतिक विज्ञानाकें की शिक्षा किसी एक उद्योग की शिक्षा
अपरा	प्राणमय कोष	काम/अर्थ धर्म समन्वित	1. जीव, जगत का अध्ययन 2. स्वास्थ्य तथा सुखी अध्ययन	वनस्पति शास्त्र, जीव शास्त्र शरीर तथा स्वास्थ्य विज्ञा, अर्थशास्त्र खेल तथा व्यायाम
अपरा व परा की मध्य स्थिति	मनोमय कोष	मनोमय कोष	ज्ञानात्मक शिक्षा	गणित, सामाजिक शास्त्र, इतिहास, नाग. शास्त्र आदि अर्न्तमान वीय संबंध तथा भाषाओं का अध्ययन
परा व अपरा की मध्य स्थिति	विज्ञानमय कोष	विज्ञानमय कोष	आत्मा को उन्नत बनाने वाले पाठ्यक्रम	कला, साहित्य, तर्क, धर्म, दर्शन नैतिक शिक्षा
परा	आनन्दमय कोष	आनन्दमय कोष	आत्मोन्नति तथा आत्मानुभूति की शिक्षा	साधना

गीता द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम की विशेषता यह है कि पाठ्क्रम का प्रत्येक विषय तथा इकाई आत्मा को उन्नत करने के अन्तिम उद्देश्य से जुड़ी हुई है।

अध्ययन–अध्यायन के हर पद पर "आत्मानुभूति" का लक्ष्य सामने रहना चाहिए। फिर चाहें भौतिक ज्ञान प्राप्त किया जाए, चाहे कलाओं का अनुशरण किया जाए। यदि लक्ष्य सामने रहता है तो व्यक्ति के भटकने की आशंका नहीं रहती है।

5.5. शिक्षणविधि-

छात्र संकल्पना में शिक्षण विधि के कुछ आधारभूत मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विवेचन गीता में किया गया है। दो प्रमुख मनोवैज्ञानिक तथ्य शिक्षण विधि में बताये गये हैं प्रथम तो शिक्षण विधि सप्रयोजन होनी चाहिए तथा छात्र की सहज प्रवृत्तियों एवं रुचियों पर आधारित होनी चाहिए।

मानव प्रकृति के अनुसार गीता में छात्रों को तीन वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है यथा–ज्ञान प्रधान प्रकृति वाले, भावना प्रधान प्रकृति वाले, तथा कर्म प्रधान प्रकृति वाले। शिक्षण विधि भी इन तीन प्रकार के विद्यार्थियों के अनुसार तीन प्रकार की हो सकती है–ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा कर्म प्रधान।

जिस विद्यार्थी विशेष की प्रवृत्ति तथ्यों को एकत्र करने, उसका विश्लेषण करने, तर्क करने, तथा गहराई से समझने की हो उसके लिए ज्ञानात्मक विधि उपयुक्त होती है जिसके अन्तर्गत श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि आते हैं।

ऐसे विद्यार्थियों के लिए जिनकी प्रकृति भावनात्मक होती है उनके साथ बुद्धि प्रधान, तार्किक प्रणाली उपयोगी नहीं होगी। वे ज्ञान ग्रहण करते हैं। परन्तु आनन्दानुभूति के लिए तार्किक विवेचन के लिए नहीं।

तीसरे प्रकृति वाले विद्यार्थी कर्म के माध्यम द्वारा अधिक सरलता से ज्ञान ग्रहण कर सकते हैं। करके सीखने की विधि उनके लिए अधिक लाभकारी होती है।

एक ही व्यक्ति की विभिन्न अवस्थाओं में ये तीन प्रकृतियाँ पृथक–पृथक समय में प्रकट होती है। बाल्यावस्था में क्रिया द्वारा सरलता से शिक्षा ग्रहण की जा सकती है। इस आयु में बालक को स्वानुभव द्वारा शिक्षा प्राप्त करने का अवसर देना चाहिए।

उत्तर बाल्यावस्था में क्रिया द्वारा शिक्षा के साथ–साथ अध्यापक कथन तथा पुस्तक पठन द्वारा भी ज्ञान ग्रहण किया जाता है इस स्तर पर ज्ञान श्रद्धापूर्वक बिना विवेचन के ग्रहण किया जाता है। जो कुछ पुस्तकों में लिखा है वह सब सही लगता है विद्यार्थी शंका नहीं करता अपितु शिक्षक को श्रद्धा का केन्द्र मानकर बिना तर्क के उसकी बात स्वीकार करता है। इस आयु में अनुकरण की प्रधानता होती है।

किशोरावस्था में तर्क की वृत्ति का विकास होने लगता है। अब अध्यापक कथन को अथवा पुस्तकीय ज्ञान को ज्यों का त्यों नहीं ग्रहण किया जाता परन्तु उसके सम्वन्ध में शंकाएँ उठती है, उनका विश्लेषण एवं विवेचन किया जाता है और तर्क विर्तक के पश्चात् ज्ञान ग्रहण किया जाता है। ज्ञान, भावना एवं कर्म की तीनों विधियाँ स्वतंत्र विधियाँ नहीं है अपितु एक दूसरे की पूरक है। यह अलग बात किसी अवस्था विशेष में किसी व्यक्ति विशेष अवथा किसी विषय विशेष के सम्बन्ध में किसी एक प्रकार की विधि का प्राधान्य हो।

परन्तु अन्य दो विधियाँ भी गौण रूप में विद्यमान रहती है। गीता में श्री कृष्ण ने कहा–"ज्ञानं कर्मसु कौशलम्" अर्थात कर्म को कुसलता पूर्वक सम्पादित करना ही ज्ञान है। इसी प्रकार ज्ञान और भावना में समन्वय की बात कही गयी है। गीता के तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम अध्यायों में इन्ही तीनों का विवेचन मिलता है।[1]

---

1. शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि–डॉ. एल.के. ओड, पृष्ठ 35 (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 1973)

5.6. शिक्षक के गुण-

गीता एक आदर्शवादी एवं व्यावहारिक दर्शन है। यह एक आचार शास्त्र का ग्रन्थ है। गीता के अनुसार एक शिक्षक के अभीष्ट गुणों का विवेचन प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

जिस प्रकार विद्यार्थी से श्रद्धा, विनय, समर्पण आदि की अपेक्षा की गयी है, उसी प्रकार गीता शिक्षक से भी कुछ अपेक्षाएँ रखती हैं जैसे शिक्षक में ज्ञान के प्रति श्रद्धा एवं अपने शिष्यों के प्रति आत्मीयता होनी चाहिए। यदि शिक्षक में ज्ञान के प्रति श्रद्धा नहीं होगी तो वह सही शिक्षा नहीं दे सकेगा। दूसरी बात गीता आत्मीयता की बात करती है कि सामने वाले शिष्य पर शिक्षक के हृदय में आत्मीयता लबालब भरी होनी चाहिए। बिना आत्मीयता के गीता के अनुसार शिक्षण नहीं हो सकता।

आज हमारे शैक्षिक जगत में ज्ञान के प्रति श्रद्धा एवं शिष्यों के प्रति आत्मीयता कम होती जा रही है। इससे छात्र एवं शिक्षकों के बीच दूरियाँ बढ़ रही हैं। हमें इन बिन्दुओं पर गम्भीर होने की आवश्यकता है। शिक्षक छात्रों के लिए एक आदर्श व्यक्ति है इसलिए शिक्षक का यह दायित्व बनता है कि वह अपने शिष्यों में ऐसा आत्म विश्वास उत्पन्न करे कि वह जो लक्ष्य रक्खे उसे अपने पुरुषार्थ के बल पर प्राप्त कर सकेंगे। गीता के अनुसार शिष्य में आत्म श्रद्धा निश्चित रूप से जगानी चाहिए तभी वह विपरीत परिस्थिति में सफलता अर्जित कर सकता है।

आज इस प्रकार की परिस्थिति निर्मित हुयी है कि छात्र अनेक समस्याओं से जूझ रहा है।

आज वह समस्या ग्रस्त दिखाई देता हैं। जब शिक्षक गीता के अनुसार विद्यार्थियों को शिक्षा देगा तो विद्यार्थी में किसी भी प्रकार की समस्या नहीं होगी। गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते है कि –

सर्वधर्मा परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यों मोक्षयिष्यामि माशुचः।।

अर्थात अर्जुन सभी धर्मो को छोड़कर मेरी शरण में आओ। मैं तुझको सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तू चिन्ता मत कर।[1]

आज के शिक्षक को श्रीकृष्ण को अपना आदर्श मानना चाहिए। श्रीकृष्ण जैसा समर्थ शिक्षक होना चाहिए जो अपने शिष्य में कुछ कर सकता हूँ , बन सकता हूँ, हो सकता हूँ की वृत्ति जगाये।

गीता के अनुसार एक कुशल शिक्षक छात्र को आशावादी बनाता है। निराशा को निकाल फेंकता है। श्रीकृष्ण कहते हैं कि–''हे अर्जुन ! मेरा शिष्य कभी नष्ट नहीं होता।[2]'' दूसरे शब्दो में–'' मेरा शिष्य कभी असफल होता ही नहीं। इन बातों में कितना बड़ा विश्वास है छात्र के लिए, छात्र के जीवन के लिए। और यह बात छात्र के व्यक्तित्व का निर्माण करने में कितनी सहायक है।

गीता के अनुसार शिक्षक में शिष्य के प्रति एक ममत्व होना चाहिए। उसे अपने शिष्य के लिए समर्पित रहना चाहिए और जो शिष्य के लिए कल्याणकारी है वैसा

1. **श्रीमद् भागवत गीता अध्याय 18 श्लोक–66**
2. **पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।**
   न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।। (गीता अ० 6 श्लोक–40)

उपदेश करना चाहिए। शिक्षक को छात्र से कोई भी बात छिपानी नहीं चाहिए। उसे अपने विश्वास में लेना चाहिए, उसे अपने प्रभावी व्यक्तित्व से आकर्षित करना चाहिए।

शिक्षक को छात्र की भावनाओं का आदर करना चाहिए उसे निरपेक्ष प्यार एवं दुलार देना चाहिए। उसमें निहित आत्म तत्व का आदर करना चाहिए, यह गीता का स्पष्ट कहना है। कभी भी छात्र के विचारों का अनादर नहीं करना चाहिए। उसके विचारों का स्वागत करते हुए उसे उचित निर्णय देना चाहिए।

श्रीकृष्ण ने गीता का सम्पूर्ण ज्ञान देने के बाद कहते हैं कि

इति ते ज्ञान मारख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।

विमृश्तैयदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।

(गीता अ० 18–63)

इस प्रकार यह गोपनीय से भी अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया। अब तू इस रहस्य युक्त ज्ञान को पूर्णतया भलीभाँति विचार कर, जैसा चाहता है वैसा ही कर।

शिक्षक को छात्रों में एक समझदारी खड़ी करनी चाहिए उसे अपनी भूमिका समझनी चाहिए कि तुम यदि एक आदर्श शिष्य बनोगे तो तुम्हें सफलता मिलेगी, तुम यदि एक आदर्श पुत्र बनोगे तो तुम पर पिता प्रसन्न होगा। यानी शिष्य में एक अपने कर्तव्य कर्मों के प्रति निष्ठा एवं समझदारी खड़ी करनी चाहिए।[1]

गीता के अनुसार शिक्षक को चिंतनशील एवं विचारवान तथा सदाचारी होना चाहिए तभी वह अपने शिष्यों का सही मार्गदर्शन कर सकता है। आज हमारे शिक्षा

---

1. श्रीमद भगवद् गीता अ० 18 श्लोक–63

जगत् से सदाचार दूर होता जा रहा है। चिंतनशीलता की कमी है इसलिए शिक्षा का उद्देश्य सही अर्थ में सामने नहीं आ पा रहा है। आज सभी को गीता के आदर्शों को आत्मसात करने की आवश्यकता है। तभी हम शिक्षा जगत् को एक नया प्रकाश दे सकते हैं।

गीता के अनुसार शिक्षक का व्यक्तित्व प्रभावी एवं मनोहारी होना चाहिए। उसे अपने छात्रों को अपने व्यक्तित्व के माध्यम से प्रभावित करना है, इसलिए उसका जीवन विवेकशील एवं चिंतन परक होना चाहिए।

चूँकि अध्ययन–अध्यापन की प्रक्रिया पूर्णतया रुचि एवं आत्मीयता पर आधारित है इसलिए इन दोनों में निरपेक्ष प्रेम होना चाहिए, निःस्वार्थ प्यार होना चाहिए तभी एक शिक्षक अपने छात्रों को सही दिशा में ले जा सकता है।

5.7. छात्र के गुण-

उपनिषदों के समान ही गीता का भी यह दृढ़मत है कि केवल सत्पात्र को ज्ञान प्रदान किया जाना चाहिए। शिक्षा प्राप्ति प्रत्येक का अधिकार है, परन्तु शिक्षक का भी यह व्यवसायिक अधिकार है कि वह सत्पात्र को ही ज्ञान प्रदान करे, एवं जो ज्ञान प्राप्त करने के लिए उचित पात्र नहीं है उसे शिष्य रूप में स्वीकार न करे। गीता में सत्पात्र के निम्नांकित लक्षण श्रीकृष्ण ने कहा है–

इदं ते नातपस्काय ना भक्ताय कदाचन।

न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।

(गीता अ० 18–67)

तुझे यह गीता रूप रहस्यमय उपदेश किसी भी काल में न तो तपरहित मनुष्य से कहना चाहिए न भक्ति रहित से और न बिना सुनने की इच्छा वाले से ही कहना चाहिए, तथा जो मुझमें दोष दृष्टि रखता है उससे तो कभी भी नहीं कहना चाहिए।[1]

प्रत्येक व्यक्ति हर प्रकार का ज्ञान प्राप्तकरने की योग्यता नहीं रखता, परन्तु शिक्षा प्राप्त करना उसका अधिकार है अतः क्षमता के अनुसार शिक्षा देनी चाहिए।

गीता विद्यार्थी से यह भी अपेक्षा करती है कि छात्र "सर्वतोभावेन" शिक्षक के प्रति समर्पण भाव रखे। ज्ञान तथा अहंकार का मेल नहीं है। जिससे ज्ञान प्राप्त करना हो उसके प्रति विनयावनत होना आवश्यक है। गीता के चतुर्थ अध्याय में श्रीकृष्ण कहते हैं–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।

(गीता अ० 4–34)

उस ज्ञान को तू तत्वदर्शी ज्ञानियों के पास जाकर समझ, उनको भलीभांति दण्डवत प्रणाम करने से, उनकी सेवा करने से और कपट छोड़कर सरलतापूर्वक प्रश्न करने से वे परमात्म तत्व को भलीभांति जानने वाले ज्ञानी महात्मा तुझे उस तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे।

ज्ञान प्राप्त करने के लिए श्रद्धा आवश्यक है परन्तु श्रद्धा का आशय यह कदापि नहीं की बिना प्रश्न किये अध्यापक की हर बात को स्वीकार कर ली जाए। श्रद्धा और विनय के साथ परिचर्या आवश्यक है। यदि मन में संशय रह जाय और उसका निवारण

---

1. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 18 श्लोक–67

न किया जाय तो शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती। शिक्षक की अध्ययन क्षमता के संबंध में संशय रखने से भी शिक्षा प्राप्त नहीं की जा सकती।

छात्र के मन में यह विश्वास होना चाहिए कि शिक्षक में ज्ञान प्रदान करने की पूर्ण सामर्थ्य है तथा उसकी सभी शंकाओं का निवारण करने की उसमें क्षमता है तभी ज्ञान के आदान–प्रदान की प्रक्रिया आरम्भ होती है। षष्ठम् अध्याय में अर्जुन–कृष्ण से कहते हैं–

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।

त्वदन्यः संशयास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।

अर्थात् हे कृष्ण ! मेरे इस संशय को पूरी तरह से मिटाने में समर्थ और कोई नहींहै केवल आप ही मेरे संशय को दूर कर सकते हैं।

जब मनुष्य संसार यात्रा में चलता है तो वह किसी लक्ष्य को निर्धारित करता है और उस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु शिक्षक या मार्ग निर्देशक के शरण में जाता है और सेवापूर्वक उससे (शिक्षक) अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उपाय पूछता है। अर्जुन जब इस साँसारिक कर्मक्षेत्र में उतरे तो उसे स्वयंमेव सही दिशा प्राप्त न होने पर वह श्रीकृष्ण (शिक्षक) की शरण में जाता है और सविनय सेवापूर्वक प्रश्न किया–प्रभो मैं अज्ञानी हूँ मोह से मेरा ह्रदय घिरा हुआ है मैं कर्तव्य पथ से विरत हूँ श्रेय की प्राप्ति हेतु निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ अतः आपका शिष्य हूँ अनुगामी हूँ, आपके शरण में हूँ मुझे शिक्षा देकर कर्तव्य पथ पर अग्रसर करें।

कार्पण्यदोषो पहत स्वभावः, पृच्छामि त्वां धर्म संमूढ़ चेता।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे, शिष्यतेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

(गीता अ० 2–7)

शिक्षा का अधिकारी बनने के लिए गीता प्रधानतः मुख्य दो गुणों की आवश्यकता है प्रतिपादित करती है एक सज्जनता और दूसरा समर्पण की भावना।

अज्ञश्चाश्रद्धाधाश्च संशयात्मा विनश्यति।

नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।

विवेकहीन और श्रद्धा रहित, संशय युक्त मनुष्य परमार्थ से अवश्य भ्रष्ट हो जाता है। ऐसे संशय युक्त मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।

गीताकार के अनुसार विद्यार्थी (छात्र) गुरू परायण और गुरू, शिष्य परायण होना चाहिए तथा गुरू और शिष्य दोनों ज्ञानपरायण और ज्ञान सेवा परायण होना चाहिए। विद्यार्थी मेरे पुत्रवत है ऐसी शिष्य परायणता शिक्षक में होनी चाहिए। शिष्य भी शिक्षक परायण होना चाहिए। इन दोनों में जबरदस्त आत्मीयता होनी चाहिए।

स्पेन्सर जैसे शिक्षण शास्त्र वेत्ता कहते हैं कि शिक्षण से कभी कोई मानव महान नहीं होता। जो भी कोई महान हुए वे शिक्षण से नहीं बल्कि जीवन में संस्कार से हुए हैं मूल बात यह है कि जीवन जीने का शिक्षण छात्र को मिलना चाहिए ऐसा गीताकार श्रीकृष्ण का स्पष्ट कहना है।

संक्षेप में विद्यार्थी को गीता कहती है–"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवाया।" तुझे यदि विद्या प्राप्त करनी हो तो तेरे पास (छात्र के पास) प्रणिपात यानी नम्रता,

परिप्रश्न अर्थात् जिज्ञासा और सेवा ये तीन बातें होनी चाहिए। बिना नम्रता के ज्ञान प्राप्ति नहीं होती, यदि हुयी तो भी वह ज्ञान नहीं टिकता और टिकता भी है तो शोभा नहीं देता। एक ही गुरू के दो शिष्य (छात्र) दुर्योधन व अर्जुन की उपलब्धियाँ इनके बीच के अन्तर को यह बात बहुत अच्छे ढंग से समझाती है। 'विद्या विनयेन शोभते' वैसे ही जिज्ञासा यानी जानने की इच्छा ही यदि शिष्य में न होतो गुरू (शिक्षक) कितने ही महान होने पर भी उसको अच्छा ज्ञान नहीं दे सकते। अन्त में प्राप्त हुआ ज्ञान भी गुरू सेवा में ही प्रयुक्त किया तो उसको सुगन्ध आती है। श्रद्धावान व संयमी को ही ज्ञान प्राप्त होता है।

श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतोन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।[1]

विद्यार्थियों को गीता संदेश देती है कि कर्म करना ही तेरा अधिकार है तू फल की चिन्ता मत कर। कर्म करते हुए की चिन्ता करने से आधा मन कार्य में और आधा मन फल की ओर रहता है। ऐसे आधे मन से किए हुए कर्म का अच्छा फल कहाँ से मिलेगा ? फल का विचार न कर सम्पूर्ण मन को कर्म में लगाकर विद्यार्थी कर्म करेगा तो फल अच्छा ही आयेगा यह निःसंशय है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफल हेतु भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।[2]

---

1. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 4 श्लोक 39
2. श्रीमद् भगवद् गीता अ० 2 श्लोक 47

5.8 शिक्षक-शिक्षार्थी सम्बन्ध-

श्रीमद् भगवद्गीता के नवम अध्याय में गुरू शिष्य के मध्य मधुर सम्बन्धों के होने की व्याख्या तथा शिष्य द्वारा गुरू के प्रति कोई ईर्ष्या भाव न होकर अतिश्रद्धावान होने के कारण श्रीकृष्ण अर्जुन को अपना प्रिय सखा एवं शिष्य मानते हुए अति अनुभूत ज्ञान की शिक्षा देते हैं। इस अनुभूत ज्ञान की शिक्षा इस बात का संकेत देती है कि इस प्रकार के ज्ञान को शिष्य तक पहुँचाने की परिस्थिति पर भी प्रकाश डाला गया है। शिष्य अति अनुशासन प्रिय, गुरु के प्रति आदर भाव रखने वाला तथा गुरु की बातों को पूर्ण अवधान के साथ सुनने वाला हो। यहाँ अंतवैयक्तिक संबंधों की व्याख्या में ज्ञान के अध्यापन की कड़ी को जोड़ा गया है। यहाँ पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि ज्यों–ज्यों शिष्य गुरू की बातों को पूर्ण अवधान के साथ सुनता है, त्यों–त्यों शिष्य आत्म प्रकाशित होकर आत्म साक्षात्कार की ओर बढ़ता है। इस प्रकार के ज्ञान की प्राप्ति में गुरू और शिष्य के बीच में जो परस्पर सौहार्द स्थापित है वह उच्च स्तरीय है। यह वह मनो–सामाजिक वातावरण है जो गुरू द्वारा ज्ञान बांटने तथा शिष्य द्वारा अर्जित करने का अभूतपूर्व अवसर है। गुरु (श्रीकृष्ण) ज्ञान का शिक्षण करते समय शिष्य (अर्जुन) पर पूरी कृपा रखते हुए मार्मिक शब्दों में अति व्यावहारिक ज्ञान का मार्ग बताते हैं जिससे आत्म शक्ति बलवती होकर आत्म साक्षात्कार तक पहुँचती है। यह अध्याय गुरू के प्रति भक्ति रखते हुए गुरू की शिक्षाओं को अवधान के साथ मन मन्दिर में उतारने की परिस्थिति का मार्मिक विवेचन है जो गुरू–शिष्य के बीच परस्पर सौहार्द पूर्ण संबंधों की व्याख्या का

मनोविज्ञान है।' गुरूर्देवोभव 'की भावनाओं के साथ कहा गया है कि बिना गुरू के ज्ञान सम्भव नहीं है। गीता के इस अध्याय में अति महत्वपूर्ण बात यह कही है कि बिना श्रद्धा भाव परस्पर सौहार्द पूर्ण वातावरण तथा पूर्ण अवधान के बिना गुरू की शिक्षा ग्रहण नहीं हो सकती। यहाँ उस पर परिस्थिति का भी विवेचन मिलता है कि गुरू–शिष्य में कोई संदेह जाग्रत नहीं करना चाहते हैं तथा शिष्य की ओर से भी गुरू के प्रति कोई शिकायत नहीं रह जाती है। ऐसी अवस्था अध्ययन तथा अध्यापन की वह मार्मिक मनोवैज्ञानिक अवस्था है जिसमें गुरू द्वारा दिया गया सम्पूर्ण ज्ञान शिष्य उसी रूप में ग्रहण करता है जो संदेह से परे हैं।

वर्तमान परिवेश में गीता–दर्शन के शैक्षिक निहितार्थ में यह कहना अतिआवश्यक होगा कि श्रीकृष्ण जैसा गुरू हो तथा अर्जुन जैसा शिष्य एवं सखा। ऐसा प्रतीत होता है कि वर्तमान समय में गुरू एवं शिष्य दोनों का अभाव सा है। गुरू तभी गुरू है और वास्तविक रूप से शिक्षक है जब उसमें असीम क्षमताएँ हों तथा शिष्य तभी शिष्य है जब उसमें त्याग, लगन, जिज्ञासा तथा गुरू के प्रति अगाध आदर भाव हो। साथ ही दोनों के अंतर्वैयक्तिक संबंध भी उच्चस्तरीय हों जिससे सीखने तथा सिखाने का वातावरण बन सके। ऐसे शैक्षिक वातावरण में ही शिष्य आत्म साक्षात्कार की अवस्था में पहुँचकर अपनी क्षमताओं का उच्चस्तरीय विकास कर सकते हैं।

श्रीकृष्ण जो ज्ञान अपने शिष्य को देते हैं उसके बारे में उनका कथन है कि यह ज्ञान सभी विद्याओं में उच्चतम है। यह अति गोपनीय है क्योंकि इसकी पूर्ण जानकारी

के लिए अंतर्मन में झाँककर देखना होता है यही ज्ञान परम शुद्ध है क्योंकि व्यक्तित्व के अन्दर आत्म शक्ति की प्रत्यक्ष अनुभूति कराने में सक्षम है। इस भाव को निम्न प्रकार श्लोक वद्ध किया गया है–

'राज विद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्।।[1]

मनोविज्ञान की शाखा शिक्षा मनोविज्ञान वैज्ञानिक रीति से शिक्षक (गुरु) तथा शिक्षार्थी (शिष्य) के व्यक्तित्व की विशेषताओं का अध्ययन कर इस बात पर बल देता है कि शिक्षक कौन हो सकता है ? तथा शिष्य को कैसा होना चाहिए ? जब गुरू तथा शिष्य की विशेषताओं का उल्लेख गीता में मिलता है तो स्पष्ट होता है कि गीता वर्तमान में मनोविज्ञान की उत्कृष्ट स्थिति है।[2] गुरू वह है जो अपने ज्ञान से शिष्य का अंधकार समाप्त करने में अहम् भूमिका निभाए। शिष्य को 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' के भाव से उसे प्रकाश की अवस्था तकले चले। गुरू शंका समाधान करे न कि शिष्य के मस्तिष्क में शंका का भाव उत्पन्न करे। भारतीय ग्रंथों में गुरू की महिमा का उल्लेख इस प्रकार किया गया है–

गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णो, गुरूर्देवो महेश्वरः।

गुरूः साक्षात परमब्रह्म तस्मै श्री गुरूवे नमः।।

गीता में ज्ञान और कर्म का समन्वय करते हुए शिष्य की भक्ति का स्पष्ट वर्णन है। शिष्य वह है जो भक्ति भाव से ओत–प्रोत हो।

---

1. श्रीमद् भगवद् गीता अध्याय–9, श्लोक–2
2. [illegible]

गीता में कहा है–

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।

(अ० 9–32)

हे पार्थ स्त्री, वैश्य एवं शूद्र या पापी व्यक्ति ही क्यों न हो वह मेरी शरण आने पर परमगति को प्राप्त हो जाता है।

गीता का भावार्थ है कि शिक्षा के क्षेत्र में गुरू की बड़ी महिमा है। शिष्य यदि गुरू की पूजा करके शिक्षा ग्रहण करता है तो वह गुरू के ही समान बन जाता है। क्योंकि गुरू से नित्य प्रति कुछ न कुछ शिक्षा लेता रहता है, गुरू का अनुकरण उसे गुरूवत ही बना देता है इस प्रकार दृढ़ निश्चय अथवा संकल्प वाला शिष्य गुरू के सम्पर्क में आकर आत्म शक्ति के साथ आत्म साक्षात्कार ग्रहण कर लेता है।

महाभारत में अर्जुन व दुर्योधन गुरूद्रोण के दो शिष्य हैं। गुरू एक ही हैं किन्तु शिष्य दो हैं एक श्रद्धा भाव से सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर बनता है तो दूसरा अहंकार भाव से ग्रसित होने कारण अर्जुन जैसी युद्ध कला से वंचित रह जाता है। यह प्रसंग भी गुरू के प्रति समर्पण भाव एवं तद्जनित प्रभाव का स्पष्ट प्रभाव है। इसके साथ ही साथ यह प्रसंग वैयक्तिक भिन्नता की भी प्रकारान्तर से पुष्टि करता है। प्रत्येक वर्तमान में जैसा है वह अपने पूर्व जन्मों के कर्मों का परिणाम है अर्थात् कर्मफल की अनिवार्य प्राप्ति की व्यक्ति को सतत् रूप में सत्कर्मों की ओर प्रेरित करने की शिक्षा देता है जो लोक व्यवहार और लोकाचरण में नीति–अनीति, उचित–अनुचित के मध्य स्पष्ट सीमांकन करता है।

[illegible]

षष्ठ अध्याय : वर्तमान परिवेश में गीता के शैक्षिक निहितार्थों का मूल्यांकन

अध्याय - 6

वर्तमान परिवेश में गीता के शैक्षिक निहितार्थों का मूल्यांकन

भूमिका—गीता में प्रतिपादित विभिन्न सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में उद्‌गमित निहितार्थों का शैक्षिक दृष्टि से मूल्यांकन प्रस्तुत अध्याय की विषय वस्तु है।

लार्ड मैकाले ने ब्रिटिश शासन में जिस शिक्षा प्रणाली को स्थापित किया था। आज भी भारत में वही शिक्षा प्रणाली मुख्य रूप से प्रचलित है। इसीलिए समय—समय पर विभिन्न वर्गों के लोग वर्तमान में प्रचलित शिक्षा की आलोचना करते हैं। यह आलोचना उचित है क्योंकि भारतीय परिवेश के अनुकूल शिक्षा प्रणाली के अभाव में आधुनिक भारतीय इतिहास सभ्यता एवं संस्कृति से पूर्णतः परिचित नहीं हो पाता। शैक्षणिक संस्थाओं होने वाले आन्दोलन यह इंगित करते हैं कि शिक्षा प्रणाली में कहीं न कहीं दोष हैं इसीलिए इसमें परिवर्तन की माँग संसद एवं संसद के बाहर भी होती है। उच्च शिक्षा इतनी व्यय साध्य हो गयी है कि प्रतिभावान निर्धन छात्र उससे वंचित हो जाते हैं।

वर्तमान परिवेश में श्रीमद्‌भगवद् गीता की शिक्षा उपादेयता सर्वाधिक है आज जिस प्रकार से नैतिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है उसको पाठ्‌यक्रम में सम्मिलित करने की बात की जा रही है उसके समाधान में गीता दर्शन एवं शिक्षा एक उपयोगी साधन हैं।

श्रीमद्भगवद् गीता विश्व साहित्य की एक अत्यन्त मूल्यवान समादरणीय निधि हैं। श्रीकृष्ण द्वारा कुरुक्षेत्र में अर्जुन को दिया गया उपदेश मानव जीवन की अनगिनत जिज्ञासाओं का समाधान प्रस्तुत करता है इसमें वेदान्त दर्शन का सार तत्व निहित है। वैदिक साहित्य का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपनिषद् स्वीकारते हुए विद्वानों ने इसे गीतोपनिषद् संज्ञा से समलंकृत किया है। स्वामी विवेकानन्द गीता रचयिता को मानव जाति का श्रेष्ठतम् व्यक्ति स्वीकार करते हैं।[1] डॉ. राधाकृष्णन ने गीता को भारतीय दर्शन एवं चिन्तन परम्परा पर प्रभावी माना है।[2] बाल गंगाधर तिलक श्रीमद्भगवद् गीता को अभूतपूर्व ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।[3] स्वामी राम ने गीता को मनोविज्ञान तथा दर्शन शास्त्र की मिली–जुली कृति माना है।[4]

पाश्चात्य विचारक विलियम बक ने स्वयं स्वीकार किया है। 1955 में जब पहली बारे उन्होंने गीता का अध्ययन किया तो इतना प्रभावित हुए उन्होंने ने उसे अपने जीवन में आत्मसात करते हुए सम्पूर्ण भारतीय साहित्य को अपना लिया।[5] ज्योफरे परिन्दर ने गीता को हिन्दू धर्म को आज तक प्रभावित करने वाली मूल्यवान कृति बतलाया है।[6] डेनियल एच.एल. इनगेल्स ने गीता को महत्वपूर्ण इसलिए माना है कि इसमें श्रीकृष्ण सामान्य मानव अर्जुन को ही प्रवचन हेतु अपनाते हैं। अरूप के मजूमदार गीता को कर्मनीति शास्त्र स्वीकार करते हैं।

---

1. Swami Vivekanand : Thoughts on the Gita Calcutta 1974, P. 14
2. Dr. S. Radha Krishnan : Indian Philosophy Vol. 1 London, 1929, P. 519
3. B.G. Tilak : Gita Rahasya Eng. Tra. by B.S. Sukthankarol-1, Poona 1935, P. Author's Preface
4. Swami Ram : Perennial Psychology of the Bhagwad Gita the Himalayan International Institute U.S.A. P. Introduction
5. William Buck : Mahabharata the Regents of the University of California U.S.A. 1973 Publisher's Perface.
6. Denial H.H. Ingalls : Forward for "Arjun in the Mahabharata" Columbia, U.S.A. P. XIV

गीता वैदिक साहित्य की एक वैज्ञानिक कृति है। गीता वह विज्ञान है जिसमें ब्रह्म विद्या वर्णित है इसमें उस विधि का भी प्रतिपादन हुआ है जिससे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है और जीव ब्रह्म होकर जन्म मरण के झंझावातों से मुक्त हो जाता है।

गीता सर्वप्रथम बुद्धि के निर्मलीकरण एवं विकास पर जोर देती है। इसके अभाव में कोई भी शिक्षा सार्थक नहीं होगी।

आधुनिक युग विज्ञान का युग है इसलिए कुछ लोगों के मन में प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या आधुनिक युग में गीता के लाभ हैं ? वास्तव में देखा जाय तो गीता की मुख्य आवश्यकता तो वर्तमान परिवेश में ही है। यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगी। सामाजिक जीवन की लगभग सभी समस्याऐं गीता से सुलझ सकती है। समय बीतने के साथ–साथ मानव का मूल स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। गीता का आधार मानव स्वभाव के मौलिक तत्वों पर है। इसलिए मानव को गीता से सदा ही प्रेरणा मिलती रहेगी। आधुनिक युग के बहुत से दार्शनिक, राजनीतिज्ञ और वैज्ञानिकों ने गीता से प्रेरणा पायी है। महात्मा गाँधी कहा करते थे कि–"जिस तरह मेरी पत्नी मेरे लिए दुनिया में सबसे सुन्दर स्त्री है। उसी तरह भगवद्गीता भी उपदेशों में सर्वश्रेष्ठ दैवी संगीत है।" युंग इण्डिया में गांधी जी लिखते हैं कि, "मैं भगवद्गीता में एक ऐसी शक्ति पाता हूँ जो मुझे पर्वत पर उपदेश में भी नहीं मिलती जब मुझे निराशा होती है और बिल्कुल अकेला प्रकाश की एक किरण भी नहीं देखपाता तब मैं भगवद्गीता की ओर लौटूता हूँ मुझे यहाँ अथवा वहाँ पर एक श्लोक मिल जाता है और मैं तुरन्त ही

अत्यधिक दुःखों के बीच में भी मुस्कराने लगता हूँ।" लोकमान्य तिलक ने आधुनिक युंग में गीता के द्वारा प्रकाश देने के लिए ही गीता रहस्य की रचना की। एनीबेसेन्ट और अरविन्द ने भी युग की दृष्टि से गीता की व्याख्या की है।

आज के युग में जब कि विश्व बन्धुत्व के सारे उपाय बालू के भीत पर खड़े दिखाई देते हैं गीता के द्वारा विश्व बन्धुत्व का संदेश पूरे संसार को दिखाया जा सकता है गीता का परम साधन लोक संग्रह है।

मोहन दास कर्मचन्द गाँधी यंग इण्डिया में लिखते हैं कि– गीता के उपदेशों में वह उदारता है जो विश्व के किसी भी साहित्य में नहीं है। गीता में सबसे में भगवान देखने का उपदेश देकर स्वार्थ और परार्थभाव का अनोखा समन्वय किया गया है।

आधुनिक काल में गीता के प्रसंग से भिन्न परिस्थितियाँ हैं गीता का अर्जुन सन्यास लेना चाहता है जब कि आज का मानव बहुत अधिक प्रवृत्तिशील है परन्तु आज का मानव भी अर्जुन के समान एकांगी है। इस कारण संतुलन रखने के लिए उसे गीता की उतनी ही आवश्यकता है जितनी अर्जुन को थी। गीता में सर्वत्र पूर्णतावाद का उपदेश है। उसमें प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं बल्कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के सन्तुलन का उपदेश दिया गया है इसी में समाज और व्यक्ति दोनों का कल्याण है प्रो० हरियाना के शब्दों में –"हमारा युग आत्म दमन नहीं बल्कि आत्म गौरव का युग है लोग सन्यासी बनने के लिए अपना कर्तव्य छोड़ने वाले नहीं हैं जैसा कि अर्जुन करना चाहता था खतरा दूसरी ओर से है अपने अधिकारों का दावा और उपभोग करने की उत्सुकता में हम अपने

कर्तव्य की अवहेलना कर सकते हैं इसलिए गीता के उपदेशों की आवश्यकता सदैव की तरह अब भी बहुत अधिक है समय बीतने पर भी उसका मूल्य घटा नहीं है और यही उसकी महानता का चिह्न है।''

वास्तव में गीता देश काल से परे है उसमें सभी प्रकार के स्वभाव वालों को शान्ति मिल सकती है। राजा, रंक, संत, योद्धा सभी उससे प्रकाश पा सकते हैं। ऐनीबेसेन्ट के शब्दों में–''वह संगीत केवल अपनी जन्मभूमि में ही नहीं बल्कि सभी भूमियों पर गया और उससे प्रत्येक देश में भावुक हृदयों में वही प्रतिध्वनि जगाई है।''

गीता केवल उपनिषदों की पुनरावृत्ति मात्र नहीं है अपितु उसमें अपना स्वयं का वैशिष्ट्य भी उपलब्ध होता है। यदि गीता में उपनिषदों की ही बातें होती तो फिर उसके बनाने की ही क्या आवश्यकता थी ? वास्तव में गीता उपनिषदों के तरीके में अन्तर है। गीता में उपनिषदों के विभिन्न तत्वों का भली प्रकार समन्वय करके साधक को भी बातें साफ–साफ समझायी गई हैं यही गीता का तात्पर्य भी था। गीता के प्रारम्भ में अर्जुन श्रीकृष्ण से निश्चित मार्ग बतलाने की प्रार्थना करता है। गीता उपनिषदों से अधिक व्यावहारिक और समन्वयवादी है। उसमें कर्म और भक्ति पर अधिक जोर है उसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति का समन्वय किया गया है। डॉ० राधा कृष्णनन के शब्दों में''गीता परस्पर विरोधी तत्वों का समन्वय करके उन्हें एक पूर्ण से मिलाती है।''

गीता का तात्पर्य समझने के लिए जिस प्रसंग में गीता का उपदेश दिया गया है। वह बहुत महत्वपूर्ण है वह एक युद्ध का प्रश्न था प्रो० हरियाना के शब्दों में–''जिस

अवसर पर उसके गीता के उपदेश की आवश्यकता पड़ी वह बहुत गम्भीर था जबकि केवल देश का नहीं स्वयं नैतिकता का भाग्य खतरे में था।'' इसलिए गीता दार्शनिक समस्याओं के विवेचन का ग्रन्थ समझाना ठीक नहीं है। उस प्रसंग में गीता का मुख्य प्रयोजन अर्जुन को युद्ध करने अर्थात् कर्म करने के लिए तैयार करना था। कर्म के बारे में अर्जुन के मोहित हो जाने पर गीता की आवश्यकता पड़ी इस तरह गीता का तात्पर्य कर्म योग को स्पष्ट करता है। गीता में श्रीकृष्ण ने कर्म के उपदेश को बार–बार दोहराया है।

ऐनीबेसेन्ट के शब्दों में– ''चाहे कोई भी तर्क क्यों न हो प्रत्येक में बराबर यह आदेश दिया गया है कि इसलिये लड़ो। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि गीता में उपनिषदों की अपेक्षा में एक नया दृष्टिकोण पेश किया गया है। यदि ज्ञान और भक्तिमात्र ही कहने का तात्पर्य होता तो फिर उपनिषदों से ही काम चल सकता था। गीता की नवीनता है उसका कर्मयोग का आदेश, गीता का मुख्य उपदेश यही है।

इस सरल फल की दृष्टि से भी गीता का प्रयोजन कर्म योग ही होता है। गीता के विश्व रूप दर्शन, क्षर–अक्षर, भेद, आत्मा का वर्णन, नित्य नैमित्तिक और काम्य कर्मो का वर्णन इत्यादि सभी बातें इस कर्मयोग की सहायक हैं। इस तरह शुरू से अन्त तक श्रीकृष्ण ने युद्ध करने के आदेश को भिन्न–भिन्न तर्को से स्पष्ट करने की कोशिश की है। प्रारम्भ में उन्होंने अर्जुन से कहा कि मरने से स्वर्ग पाओगे और जीतने में पृथ्वी के राज्य का भोग भोगोगे, परन्तु जब इस व्यावहारिक बात का उस पर कोई असर ना पड़ा

तब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को आत्मा की अमरता का उपदेश दिया। इसी तरह अन्य तर्कों के बाद भी जब अर्जुन का समाधान न हुआ तब श्रीकृष्ण ने उसे साक्षात विश्व रूप का दर्शन कराके ये बातें समझायी कि वास्तविक कर्ता परमात्मा है। जीव उसके हाथों में एक निमित्त मात्र है और परमात्मा द्वारा निश्चित कर्तव्य करने में ही उसका कल्याण है। डॉ० राधा कृष्णनन के शब्दों में – ''कर्मयोग गीता का मुख्य उद्देश्य है हमें एक ऐसी अवस्था पर ले जाना है जहाँ भावना ज्ञान और संकल्प सभी उपस्थित हैं।''

योगेश्वर श्रीकृष्ण के अनुसार – ''कर्मों में कुशलता ही योग है।'' गीता में कहा गया है जो बिल्कुल स्पष्ट है –

तपस्विभ्योधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।

कर्मिभ्यच्वाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।[1]

तपस्वी से योगी बड़ा है ज्ञानी से योगी बड़ा है कर्मी से योगी ऊँचा है अतः हे अर्जुन तू योगी हो। इन शब्दों में जहाँ यह स्पष्ट है कि योगी, तपस्वी, ज्ञानी सभी से ऊँचा है वहाँ यह भी स्पष्ट है कि योग, तपस्या, ज्ञान अथवा कर्म से भिन्न है। योग कर्म नहीं बल्कि कर्म में कुशलता है।

इस प्रकार गीता का मुख्य उपदेश निष्काम कर्म योग है। निष्काम का अर्थ वैयक्तिक कामना से नहीं बल्कि विश्वात्मा जो कि हमारी आत्मा का उच्चपथ है की कामना से कर्म करना, भगवद् कर्म के सफल यन्त बनाना है। गीता में वर्णाश्रम धर्म को

---

1. श्रीमद् भगवद्गीता–अध्याय 6 श्लोक 46

जन्म से नहीं बल्कि स्वभाव के आधार पर मानना है इस अर्थ में आज भी यह अत्यन्त वैज्ञानिक है। श्रम विभाग को गीता ने दैवी स्वीकृति प्रदान की है इसका अर्थ किसी प्रकार की वर्णव्यवस्था न होकर समाज का सुचारु रूप से संचालन था क्योंकि वर्ण धर्म पालन जन्म सिद्ध अधिकार समझकर नहीं बल्कि भगवान का आदेश समझकर उसकी दी हुई शक्तियों को उसी के काम के लिए उपयोग करने के लिय है। योग का अर्थ ईश्वर से तादात्म्य है और यही गीता का परम श्रेय है। वास्तव में जैसा कि डॉ० राधा कृष्णन ने कहा है– "गीता एक सामुहिक आक्रमण की प्रभावोत्पादकता में विश्वास करती है।" निष्काम कर्म योग मानव की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति के अनुकूल है। उससे स्वार्थ और परार्थ, व्यक्ति और समाज इह लोक तथा परलोक सभी का कल्याण साधन होता है। वास्तव में आध्यात्मिक दृष्टिकोण सदा ही पूर्ण और समन्वयवादी दृष्टिकोण होता है। प्रो० हरियाना के शब्दों–"गीता का उद्देश्य प्रवृत्ति और निवृत्ति या कर्म और ज्ञान दो आदर्शो में स्वर्णिम मध्य मार्ग निकालना है। यह गीता के कर्म योग का असली अर्थ है। निष्काम कर्म योग ज्ञान, भक्ति और कर्म आध्यात्मिक समन्वय है।"

श्री अरविन्द के शब्दों में–"गीता हमें कर्मो की कामना रहित होकर करना नहीं सीखाती बल्कि सर्वधर्मो को छोड़कर दैवीजीवन का अनुसरण करना, एक मात्र परम ब्रह्म में शरण लेना सिखाती है और एक बुद्ध, एक राम, कृष्ण और एक विवेकानन्द का दैवी कर्म इस उपदेश से पूर्ण सामंजस्य में है।

गीता के शब्दों में –

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।[1]

यही कृष्ण की अन्तर्यामी विश्वात्मा है अतः गीता का प्रयोजन मानव का दैवी रूपान्तर करके उसे निष्काम कर्मयोग द्वारा जगत में ईश्वर को कार्य का साधन बनाना है।

मानव जीवन के सभी अंगों का सांगोपांग रूप से विचार कर इसमें एक ऐसे तत्व ज्ञान तथा आचार शास्त्र का प्रतिपादन किया गया है जो शाश्वत सत्य और जिसकी उपादेयता हजारों वर्ष के बाद भी निःसंदिग्ध है। यही कारण है कि न केवल भारत देश के लिए, बल्कि संसार की मानव जाति के लिये गीता अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है। जिस समय गीता की रचना हुई वह युग संक्रान्त काल का था। उस समय नाना प्रकार के सिद्धांतों के विषयों में विवाद प्रचलित थे। जिससे जीवन के लिये उपादेय किसी "हिन्दु दृष्टिकोण" का प्रतिपादन करना असम्भव था। परन्तु प्रारम्भ से ही भारतीय दृष्टिकोण समन्वयवादी रहा है और गीता भी समन्यवयात्मक शास्त्र ही है।

गीता का शिक्षा दर्शन किसी काल विशेष के लिये नहीं अपितु वह सार्वकालिक है। जब–जब समाज में विश्रृंखलता उत्पन्न होती है तभी–तभी समाज को उन्नति करने के लिये परमात्मा को किसी शिक्षक के रूप में अवतार धारण करना पड़ता है।

---

1. **श्रीमद्भगवद्गीता–अध्याय 18 श्लोक 66**

सामाजिक परिवर्तन सतत प्रक्रिया है और उस परिवर्तन के अनुरूप सामाजिक प्रक्रिया को नियंत्रित करने के लिये शिक्षक को सदैव अवतार की भूमिका निभानी पड़ती है। सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरुप उत्पन्न कुण्ठा को दूर करने के लिये शिक्षक को प्रयास करना पड़ता है। सामाजिक परिवर्तन के कारण उत्पन्न कुसमायोजन से निपटने के लिये शिक्षक को अध्यवसाय करना पड़ता है इसी को कर्म कहा जाता है।

आज के युग में कर्म की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता, मौलिक सृजन, वैज्ञानिक विकास, औद्योगिक क्रान्ति, अधिक उत्पादन सभी कुछ कर्माश्रित है परन्तु गीताकार मनुष्य को एक तरफ कर्म के फल से उत्पन्न अहंकार से बचाता है। तो दूसरी ओर कर्म के विफल होने की कुण्ठा से भी उसकी रक्षा करता है, सामाजिक प्रगति के लिए यदि मनुष्य कार्य करता है तो उससे समाज आगे बढ़ता है और इसका श्रेय कर्म कार को नहीं बल्कि ईश्वर को है। इस प्रकार कर्म करते हुये भी यदि सफलता नहीं मिलती तो इसके लिये भी वह उत्तरदायी नहीं है। मनुष्य को तो कर्म करने का अधिकार है शुभाशुभ कर्मों का फल उसे भगवान पर छोड़ देना चाहिए।

शिक्षा कर्म की प्रक्रिया है उसके द्वारा प्राप्त प्रमाण पत्र में नहीं। गीता की कर्मनिष्ठा शिक्षा है कर्मपक्ष में उस पवित्रता को मिश्रित करती है जिसमें कर्म करते हुये भी व्यक्ति में आसक्ति की भावना नहीं होती।

भतृहरि के शब्दों में –

परिवर्तिनि संसारे मृतःकोवान जायते।

सा तो येन जातिन याति वंशः समुन्नतिम्।।

इस परिवर्तनशील संसार में कौन नहीं जन्मता और कोई नहीं मरता परन्तु जन्म लेना उन्हीं का सफल होता है जो अपने वंश और जाति कि उन्नति करते हैं। गीता के लिये एक पाश्चात्य विद्वान के भाव दृष्टव्य हैं। – A warrior a man of science an artist, a poot is jugged in the main by difinite achivonemts. By victories they have won, on fariogn on onies or over in norance of proqydice by the joy and oniigh tormount, they have brought to the consciousmoss of their own and sucecceding genorations.

एक योद्धा, एक विज्ञानी अथवा कलाकार या कवि निर्दिष्ट सफलताओं द्वारा आँका जाता है। विदेशी शत्रुओ पर विजय पाने से योद्धा, और अन्धविश्वास पर विजय पाने से वैज्ञानिक, दुःख पर विजय पाने और चिन्ता के स्थान पर आनन्द लाने से कवि और कलाकार आँका जाता है। जो वर्तमान तथा भविष्य के लिये सुख के बीज बोया जाता है।

गीता वर्तमान युग के लिये उपयोगी है जो व्यक्ति के प्रति संचेष्ट भावना का उद्दीपन कर कर्म करने को जागृत करती है मानव के मन में चल रहे द्वन्द्व हो अथवा संसार के मध्य उत्पन्न दुःखाच्छादित आकाश का तम कर्म पथ पर अग्रसर होने से ही दूर हो सकता है। इसलिये गीता पग–पग पर हरयुगीन विभूतिमान बनने हेतु प्रेरणादायक चिर स्थाई शिक्षक है जिसकी उपयोगिता सर्वकालिक तथा सर्वभूत ही है।

भारतीय नीति शास्त्र में भगवद् गीता ने एक सर्वागपूर्ण नैतिक सिद्धांत उपस्थित किया है। जिस प्रकार दर्शन के क्षेत्र में गीता ने एक समन्वयवादी और पूर्णतावादी मार्ग

उपस्थित किया है उसी प्रकार नीति के क्षेत्र में भी विभिन्न नैतिक सिद्धांतों का समन्वय करती है।

इस प्रकार गीता जीवन के एक सार्वभौम दर्शन की पुस्तक है।

जीवन एक संग्राम है और इसलिए कुरुक्षेत्र की रणभूमि में गीता का गान एक सुयोग्य पृष्ठभूमि का सर्जन है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त मानकर विश्व के मानव मात्र को गीता के ज्ञान द्वारा जीवनाभिमुख बनाने का चिरन्तन प्रयास किया है। गीता समस्त विश्व के मानव जाति को कहती है कि जीवन रोने के लिए नहीं है, भाग जाने के लिए नहीं, हँसने के लिए है, खेलने के लिए संकटों से, हिम्मत से लड़ने के लिए है, वैसे ही अखण्ड आशा और दुर्दम्य आशा के बल पर विकास करने के लिए है। गीता हर व्यक्ति में आशा जागृत करती है निराशा को बाहर निकालती है और मानव जीवन के गंभीरता को बताती है कि जीवन अमूल्य है और समवृत्ति रखकर सुख में, दुःख में स्थिर खड़ा रहने का उपदेश देती है गीता हर प्राणी के समक्ष एक दिव्य लक्ष्य रखती है और उस लक्ष्य की प्राप्ति में घबराना नहीं है बल्कि प्रतिपल दुर्दम्य आशा रखकर मंजिल तक पहुँचना है। गीता मानव मात्र को जीवन में प्रतिक्षण आने वाले छोटे बड़े संग्रामों के सामने हिम्मत से खड़े रहने की शक्ति देती है।

किसी भी विशिष्ट धर्मसंघ या सम्प्रदाय की धुन में न पड़कर गीताकार ने मानव जीवन के चिरन्तन मूल्यों को गीता में ग्रंथित किया है। गीता वैश्विक ग्रन्थ है। वास्तव में यह तत्वज्ञान का एक अमूल्य ग्रन्थ है। "Gita is no the bible of Hinduism but is the bibble of Humainty" गीता हमारा विश्व धर्म ग्रन्थ है। गीता किसी एक जाति, सम्प्रदाय

या राष्ट्र के लिए नहीं, बल्कि समस्त विश्व के मानव जाति के लिए नहीं है। इसमें संकुचित दृष्टि नहीं है बल्कि समस्त विश्व के मानव मात्र के कल्याण एवं विकास की बात की गयी है।

आज की परिरिस्थिति में जहाँ हर प्राणी एक–दूसरे से अलग दिखाई दे रहा है उसके मन में निराशा घर कर गयी है उसका आत्मबल, ऐक्यता सब कम होता जा रहा है वहीं गीता आशा की प्रबल किरण बिखेरती है।

वाङ्मय रसिकों को गीता में वाङ्मयीन सौन्दर्य दिखाई देता है, कर्मवीरों को गीता कर्म करने का उत्साह देती है। वह विद्यार्थी एवं शिक्षक दोनों को उत्साह से भरना चाहती है।

पापी से पापी मनुष्य भी गीता माँ के पास आया तो भी माँ उसका तिरस्कार या उपेक्षा न कर उसको लेकर प्रेम की उष्मा देती है। गीता इस संसार के प्रत्येक प्राणी को अपना मानती है क्योंकि गीता का स्पष्ट उपदेश है कि समस्त विश्व एक ही चैतन्य से बना है फिर इनमें भेदभाव क्यों ?

निराशा के अन्धकार में भटकने वाले मानव के जीवन में गीता आशा का प्रकाश बिखेरती है हतोत्साही मानव को गीता नवीन प्रकाश देती है। निराश मनुष्य को गीता कहती है–

क्लैव्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्तोत्तिष्ठ परन्तप।।[1]

1. श्रीमद्भगवद्गीता अ० 2 श्लोक 3

निराशा हृदय की क्षुद्र दुर्बलता का लक्षण है मानव असफल होने पर निराश बनता है परन्तु असफलता सफलता के विरूद्ध नहीं है। वह केवल बिलम्ब की सूचना करती है। असफलता से निराश होकर बैठने की अपेक्षा मनुष्य को अधिक शक्ति से काम लेना चाहिए। प्रयत्नशील मानव के जीवन में आने वाली असफलताएँ सीढ़ियों का रूप लेकर सफलता का सोपान बनाती हैं निराशावादी मनुष्य गुलाब पर काँटे देखता है। गीता उनको काँटों में गुलाब देखने की दृष्टि देती है।

वर्तमान परिवेश में गीता की शिक्षा की विशेष उपादेयता है। आज शिक्षा जगत में जो विद्यार्थियों के अन्दर हताशा एवं निराशा है वह नहीं होनी चाहिए, क्योंकि गीता हर प्राणी में एक तत्वनिष्ठा खड़ी करती है उसके आत्मबल को बढ़ाती है और स्पष्ट उपदेश देती है कि अपनी हृदय की दुर्बलता को तू निकाल दे, और जो तुम्हार कर्तव्य कर्म है उसे करो।

जो मनुष्य पापी नहीं है (क्योंकि उसमें पाप करने की हिम्मत नहीं होती) वैसे ही जो निराश नहीं बनता (क्योंकि वह कुछ करता ही नहीं) ऐसे सामान्य मनुष्य के जीवन में रस भरने का काम गीता करती है। गीता ऐसे मनुष्य को कहती है "तस्मात योगी भव"[1] तू योगी बन यानी कहीं भी जुड़ जा। एकाध कार्य, संस्कृति, ध्येय, राष्ट्र या ईश्वर के साथ जुड़े बिना जीवन का विकास असम्भव है। वृक्ष भूमि के साथ जुड़ा हुआ होता है इसलिए उसका जीवन सफल बनता है।

वैसे ही जीवन की विभिन्न अवस्थाएं जिसने अच्छी तरह से बितायी है वह व्यक्ति

1. **तस्माद्योगी भवार्जुन।** (श्रीमद्भगवद्गीता अ० 6 श्लोक 46)

अन्तिम अवस्था अर्थात् मृत्यु से डरता नहीं ऐसा कहकर गीताकार ने विभिन्न आश्रमों के लोगों को भी मार्गदर्शन दिया है।

जीवन में आती रहने वाली शैशव, यौवन व वार्धक्य ये तीन अवस्थाएँ भी बहुत सूचक व मार्गदर्शक हैं प्रत्येक अवस्था परिवर्तनशील है परन्तु एक अवस्था में जो सुन्दर और जीवनोपयोगी बातें थीं उनको साथ लेकर आगे बढ़ना चाहिए। शैशव में की विद्या प्राप्ति की जिज्ञासा व आकर्षण यदि जीवन भर साथ रहे तो सम्पूर्ण जीवन का कार्य सुवर्णकाल बनकर रहेगा। निश्चिन्तता व निष्पापता भी बचपन से ही मानव को प्राप्त होने वाले वरदान हैं।

वर्तमान परिवेश में गीता का शैक्षिक मूल्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि गीता जीवन के प्रत्येक कक्ष को प्रकाशित करती है। मानव का व्यक्तिगत, सामाजिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आत्मिक सभी विकास के प्रत्येक पहलू पर उपदेश करती है और उसको विकसित करने की शिक्षा देती है। आज के विद्यार्थी, शिक्षक, माता–पिता एवं संसार के समस्त प्राणी को शिक्षा गीता देती है। वह हर इंसान में मानवता जागृत करने को कहती है। हमारा जीवन एकांगी न हो बल्कि हम समाज के लिए उपयोगी बनें और साथ–साथ इस विश्व में ऐक्यता निर्माण कर सकें, ऐसी कर्मयोग की शिक्षा गीता प्रत्येक मानव को देती है।

विद्यार्थियों को गीता कहती है "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया" तुझे यदि विद्या प्राप्त करनी हो तो तेरे पास प्रणिपात यानी नम्रता, परिप्रश्न अर्थात् जिज्ञासा और सेवा ये तीन बातें होनी चाहिए। बिना नम्रता के ज्ञान प्राप्ति नहीं होती, यदि हुई तो भी

वह ज्ञान नहीं टिकता और टिकता भी है तो शोभा नहीं देता। एक ही गुरु के दो शिष्य दुर्योधन व अर्जुन इनके बीच के फर्क को यह बात बहुत अच्छे ढंग से समझाती है। "विद्या विनयेन शोभते"। वैसे ही जिज्ञासा यानी जानने की इच्छा ही यदि शिष्य में न हो तो गुरु कितने ही महान होने पर भी उसको अच्छा ज्ञान नहीं दे सकते। अन्त में प्राप्त हुआ ज्ञान भी गुरु सेवा में प्रयुक्त किया तो उसको सुगन्ध आती है। श्रद्धावान व संयमी को ही ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञान देने वाले गुरु या शिक्षक की योग्यता के संबंधमें गीता कहती है–"उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः" ज्ञान का उपदेश करने वाला व्यक्ति ज्ञानी व तत्वदर्शी होना चाहिए। जिनके स्वयं के पास ही ज्ञान नहीं होता व दूसरों को कैसे दे पाएगा ? सिवाय गुरु तत्वदर्शी भी होना चाहिए उसके जीवन में तपश्चर्या का बल, ज्ञान की गहनता तथा अनुभव का निचोड़ होना चाहिए संक्षेप में शिक्षक या गुरु विचारों से विद्वान व आचरण से सज्जन होना चाहिए।

वर्तमान परिवेश के शिक्षकों के लिए गीता का यह संदेश अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि शिक्षक को तत्वदर्शी होना चाहिए उसका जीवन अनुकरणीय होना चाहिए। वह ज्ञान–विज्ञान से भरपूर होना चाहिए, उसमें आस्तिकता होनी चाहिए, उसमें तत्व निष्ठा के साथ–साथ समस्त विश्व के प्राणियों में समरस होने की भावना होनी चाहिए। उसे अपने विद्यार्थियों के प्रति आत्मीय भाव होना चाहिए। उसका दृष्टिकोण राग द्वेष से परे होना चाहिए, उसका व्यक्तित्व दैवी होना चाहिए। ऐसा गीता का स्पष्ट कहना है। यदि ऐसे व्यक्तित्व वाले शिक्षक अपने देश में होंगे तो हमारी बिगड़ी हुई शिक्षा प्रणाली पुनः सुधर सकती है, जो शिथिलता दृष्टिगोचर होती है उसमें एक नया मोड़ आ सकता है। गीता शिक्षा

जगत को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानती है और यह कहती है कि शिक्षक का जीवन समस्त विश्व के लिए अनुकरणीय एवं प्रेरक होना चाहिए। उसकी जीवन प्रणाली आचार–विचार से पवित्र होनी चाहिए। उसमें पठन–पाठन के प्रति अतिशय प्रेम होना चाहिए। उसका व्यक्तित्व एकांगी न होकर सर्वांगी होना चाहिए। तभी वह विद्यार्थियों के लिए अनुकरणीय बन सकेगा।

यदि हम गीता के विचारों का पालन प्रामाणिकता से करेंगे तो अवश्य ही शिक्षा जगत को एक नयी आशा, नयी किरण मिल सकती है।

उसी प्रकार से गीता विद्यार्थी को भी उपदेश देती है कि पूर्ण रूप से विनम्र बनकर अर्जुन की तरह समर्पण भाव रखकर तू विद्या अर्जित कर।

गीताकार का विद्वानों के लिए सन्देश है कि उन्हें अपनी बुद्धि का उपयोग सामान्य लोगों की भावना को नष्ट करने में या उनकी श्रद्धा को उड़ा देने में नहीं करना चाहिए। सामान्य मनुष्य जो कर्म आसक्ति से करता होगा वे ही कर्म उसे अनासक्ति भाव से करने चाहिए।

काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः।

सर्व कर्म फल त्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।[1]

सामान्य लोगों को उन्हीं के लिए जैसा बनकर, उनके सामान्य कर्मों में से धीरे–धीरे ऊपर उठाना ही विद्वान मनुष्य का कर्तव्य है। गीता कहती है–

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्म सङ्गिनाम्।

जोषयेत्सर्व कर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।[2]

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता अ० 18 श्लोक 2
2. श्रीमद्भगवद्गीता अ० 3 श्लोक 26

नेता फिर वह सामाजिक, धार्मिक अथवा राजकीय किसी भी क्षेत्र का हो उसे अपने आचरण से प्रेरक मार्गदर्शन देना चाहिए ऐसा गीता का आग्रह है।

यद्यदा चरित श्रेष्ठस्तत्तदेवतरो जनः।

स यत्प्रमाणं करूते लोकस्तदनुवर्तते।।[1]

बड़े लोगों पर यह उत्तरदायित्व रहता है कि उन्हें समाज को योग्य मार्गदर्शन करना होता है। राजनीतिक नेताओं के लिए गीताकार ने जनक का उदाहरण देकर तत्वचिंतक राजनीतिज्ञ का आदर्श प्रस्तुत किया है।

आधुनिक युग के लिए गीता का संदेश या शिक्षा बहुत ही व्यावहारिक है। कार्यकर्ता को गीता कहती है कि तू अपने कर्म का कर्मयोग बना दे। "योगः कर्मसुकौशलम्" कर्म में कुशलता का नाम ही योग है। कुशलता से काम करना अर्थात् हृदय के सहयोग से काम करना। कोई भी कार्य मन लगाकर करने से ही अच्छा होता है मन को चुराकर नहीं।

ज्ञानियों को गीता कहती है कि तुम केवल वाद–विवाद करते बैठने की अपेक्षा संवाद करो। गीता भी कृष्ण–अर्जुन के बीच का संवाद ही है। विवाद में स्वयं के मत के लिए प्रत्येक का आग्रह रहता है, इसलिए वहाँ द्वेष, झगड़ा निर्माण होता है संवाद में सामने वाले के मतों, विचारों को समझ लेने की या उनका स्वीकार करने की सहिष्णुता होती है, अतः उसमें से संगीत निर्माण होता है।

गीता का शैक्षिक मूल्य अत्यन्त व्यावहारिक एवं शास्त्रीय है कर्मयोगी को गीता

---

1. श्रीमद्भगवद्गीता अ० 3 श्लोक 21

संदेश देती है कि कर्म करना ही तेरा अधिकार है, तू फल की चिन्ता मत कर। कर्म करते हुए फल चिन्ता करने से आधा मन कर्म में और आधा फल की ओर रहता है। ऐसे आधे मन से किए हुए कर्म का अच्छा फल कहाँ से मिलेगा ? फल का विचार न कर सम्पूर्ण मन को कर्म में लगाकर मनुष्य कर्म करेगा तो फल अच्छा ही आयेगा, यह निःसंशय है। सिवास फलासक्ति छोड़कर किया हुआ कर्म कर्ता के लिए कभी बाधा जनक नहीं होता।

भक्तों के लिए गीता का शैक्षिक मूल्य है–"न मे भक्तः प्रणश्यति।" भक्त का कभी नाश नहीं होता उसकी चिन्ता भगवान स्वयं करते हैं। भगवान ने भक्त को आश्वासन दिया है कि अपने भक्तों का योगक्षेम मैं चलाता हूँ। उसको अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति मैं करा देता हूँ और प्राप्त वस्तु का रक्षण मैं करता हूँ।

गीता मानव को सुखी बनाने की मनोवैज्ञानिक जीवन कला सिखाती है। मनुष्य का मन भाववाही, प्रतिकारक्षम व विकसनशील बनना चाहिए। सुख प्राप्त करने की, भोगने की तथा पचाने की शक्ति मन में होनी चाहिए। इसके लिए मन की एकग्रता की शक्ति बढ़ानी चाहिए ऐसी गीता हर प्राणी को शिक्षा देती है। क्षर तथा अक्षर पुरुष की चर्चा करने वाले तत्ववेत्ताओं को गीताकार उत्तम पुरुष की कल्पना देते हैं।,

वर्तमान परिवेश में गीता के शैक्षिक निहितार्थों का मूल्यांकन शोधकर्ता ने अधोलिखित प्रकार से किया है–

1.आत्मा की अमरता

2.स्थित प्रज्ञावस्था

3.वि भूतियोग

4.गीता में त्रिगुण (सत्, रज, तम्)

5.गीता में क्षर–अक्षर

6.तप के तीन प्रकार

7.दैवी एवं आसुरी सम्पदा

8.गीता में निष्काम कर्मयोग

उपनिषदों की भाँति ही भगवद्गीता में भी परमतत्व, आत्मतत्व या ब्रह्म का विशद् विवेचन किया गया है। गीता के अनुसार आत्मा, अजन्मा, नित्य शाश्वत व पुरातन है। यह शरीरादि से विभिन्न षट्विकारों से रहित है, न वह जन्मता है, न वह मरता है, वह सत्ता का अनुभव कर कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता है।

एक ही आत्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। यह भिन्न–भिन्न नाम और रूप धारण कर पहचानी जाती है यह तो जिस आवरण (शरीर) से आच्छादित होती है उसी शरीर के रूप तथा नाम से इस भौतिक संसार में पहचानी जाती है उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति जो विभिन्न संबंधों से पहचाना जाता है, वह किसी का भाई है, किसी का पति है, किसी का मित्र है वस्तुतः यह व्यक्ति तो एक ही है ऐसे ही आत्मा एक है वह परमात्म तत्व है।

आध्यात्मिक मान्यतानुसार समस्त प्राणी ब्रह्म के प्रदर्शन मात्र है जो सांसारिक जीवन को अपने–अपने ढंग से यापन कर रहे हैं मानव तथा अन्य जीवों में भिन्नता होते हुए भी सभी का स्रोत एकमेव परमात्मा ही है।

वस्तुतः हर प्राणी अपने आप को जाति–प्रजाति, लिंग भाषा, धर्म आदि के आधार

पर विभक्त कर लिया है। इसीलिए हमने अपनी चेतना को जो हमारे व्यवहार का कारक है को भी वर्गीकृत किया हुआ है। जितना हम बँटते हैं उतना ही हम अपनी आत्मा से दूर होते चले जाते हैं।

आत्मा की मनोवैज्ञानिक आवाज विवेक है जो हमारे चेतना शरीर ढाँचे द्वारा प्रतिबिम्बित होती है। जब भी हम कोई गलत कार्य करने की सोचते हैं तो तुरन्त ही हमारा विवेक हमें सावधान करता है। विवेक स्तर एक सत्य है जो हमें पीढ़ी दर पीढ़ी हमारे पूर्वजों द्वारा परमात्मा से मिला है।

चेतना स्तर पर हमार डर हमसे पूछता है कि क्या अमुक पाप करने पर हम पुलिस आदि से बच सकेंगे। लालच पूछता है कि अमुक पाप करने से क्या–क्या लाभ मिलेगा ? हमारा अहंकार पूछता है कि क्या पाप करने से हम श्रेष्ठ बन जायेंगे। काम पूछता है कि अमुक पाप कर्म से क्या सुख प्राप्ति होगी, परन्तु हमारा जीवन दर्शन (विवेक) तो यही पूछता है कि क्या यह कर्म उचित है ? यही सत्य चेतना तथा विवेक के मध्य मनोवैज्ञानिक संघर्ष का आधार है।

जैसा करोगे वैसा भरोगे वही क्रिया तथा प्रतिक्रिया का मनोवैज्ञानिक नियम है जिसका श्रोत श्रीमद्भगवद्गीता है।

आत्मा की अमरता का शैक्षिक निहितार्थ यह है कि समस्त विश्व एक ही परमात्मा से बना हुआ है फिर हमारे समाज में भेदभाव क्यों है ? क्योंकि गीता तो यह संदेश देती है कि यह विश्व एक ही चेतना सत्ता से बना है फिर हममें भेद दृष्टि नहीं होनी चाहिए। ऐसी अभेद दृष्टि का विकास करने की बात गीता करती है।

गीता दर्शन की शिक्षा वर्तमान युग के लिए अत्यन्त प्रासंगिक है। गीता दर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है। यह मात्र सैद्धान्तिक ग्रन्थ नहीं है अपितु यह एक आचार शास्त्र है। श्रीकृष्ण ने गीता में जो भी उपदेश दिया है वह मात्र उस समय के मनुष्य के लिए ही उपयोगी था आज नहीं, ऐसा नहीं है। अपितु गीता में काल बन्धन नहीं है उसमें जो विचार हैं वे सभी त्रिकाल बन्धन से परे हैं।

श्रीकृष्ण ने गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ व्यक्ति कैसा होता है इसका एक चित्र प्रस्तुत किया है। सचमुच में आज के इस सांस्कृतिक विषम काल में विद्यार्थी एवं शिक्षक की बुद्धि स्थिर नहीं है आज वह कुछ सोचता है, और कल कुछ करने लग जाता है उसके विचारों में एवं सिद्धान्तों में स्थिरता का अभाव दिखाई देता है आज का व्यक्ति या विद्यार्थी अपने लक्ष्य के प्रति एकाग्र नहीं है, उसमें तल्लीनता नहीं है, उसे प्राप्त करने के लिए उसमें समर्पण नहीं है। उसके मन मस्तिष्क में अनेक द्वन्द हैं अनेक संकल्प विकल्प हैं वह अपने कर्तव्य पथ से च्युत हो गया है वह अपने विचारों के प्रति कटिवद्ध नहीं है इन सब परिस्थितियों को देखते हुए आज के वर्तमान परिवेश की पीढ़ी को गीता के दर्शन की आवश्यकता है।

मानवी जीवन की उन्नति हेतु प्रयत्नशील रहने वालों को गीता ध्येय देती है। स्थितप्रज्ञ यानी जिसकी प्रज्ञा स्थिर है, वह जिसकी बुद्धि में कम्पन्न नहीं है, आज की परिस्थिति में शैक्षिक परिवेश में जो अपने कर्तव्य कर्मों के प्रति अस्थिरता दिखाई देती है उसमें प्रस्तुत विषय यानी (स्थितप्रज्ञता के उपदेश) काफी व्यावहारिक लाभ दे सकता है। विद्यार्थियों में जो अस्थिरता बनी है और वे अपने लक्ष्य से भटके हुए दिखाई देते हैं

उनके लिए गीता का यह प्रकाश यह वैचारिक उपदेश उनके जीवन में एक नया मोड़ ले आ सकता है। गीता में श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ पुरुष की चर्चा करके यह कहना चाहते हैं कि हमें अपने लक्ष्य से भटकना नहीं है। अपने कर्तव्य कर्मों को हमें पूरी एकाग्रता के साथ करना है। गीता के स्थितप्रज्ञ दर्शन का शैक्षिक निहितार्थ यह है कि विश्व के हर प्राणी की बुद्धि अपने कर्तव्य कर्मों के प्रति स्थिर होनी चाहिए। विद्यार्थियों में अपने लक्ष्य के प्रति किसी भी प्रकार का कम्पन्न या चंचलता नहीं होनी चाहिए।

श्रीकृष्ण ने गीता के दसवें अध्याय में विभूतियों को विस्तार से समझाया है। विभूति का तात्पर्य है ऐश्वर्य अथवा शोभा प्रकट करने का कौशल्य इसी का दूसरा नाम है विभूतियोग। विभूतियोग में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि जो–जो वस्तुएँ ऐश्वर्य, शोभा एवं प्राण से युक्त हों वह सब मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुई हैं ऐसा समझ।

इस विभूतियोग का वर्तमान परिवेश में गीता का शैक्षिक निहितार्थ यह है कि यदि हम शिक्षा जगत में गीताकार की गायी गीता के विभूति को इस सृष्टि में देखेंगे तो हमारा जीवन दैवी होगा और तब शिक्षा जगत को एक नया प्रकाश मिल सकता है। इस दृष्टिकोण के माध्यम से विश्व में जो एक ही चेतन सत्ता है उसका हम दर्शन कर सकते हैं। क्योंकि बाल्मीकि रामायण दर्शन में श्री पांडुरंग शास्त्री ने लिखा है कि "विश्व आत्म रूप है और आत्मा विश्व रूप हैं।" आज के इस वैज्ञानिक युग में गीता के दर्शन की सभी को आवश्यकता है।

यदि हम इस सृष्टि में ईश्वरीय सत्ता को देखेंगे तो हमारी बहुत सारी शैक्षिक एवं सामाजिक समस्याऐं हल हो सकती हैं और व्यक्ति में एक चेतना सत्ता का बोध होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने त्रिगुण यानी (सत्, रज, तम्) पर उपदेश दिये हैं। गीता में गुणों के आधार पर व्यक्तियों को तीन वर्गों में बाँटा गया है जैसे–सतोगुणी, रजोगुण एवं तमोगुणी। इन तीनों प्रकार के व्यक्ति की सोच एवं दृष्टिकोण में अन्तर होता है।

गीता में सात्विक बनाने के लिए विशेष आग्रह रखा गया है कि व्यक्ति में सात्विकता का निर्माण हो। सात्विक वृत्ति वाला व्यक्ति इस जगत् के बारे में उसकी समस्या के बारे में आत्मीयता से सोच सकेगा। सात्विक वृत्ति बनानी पड़ेगी। आज जो शिक्षा जगत में समस्याएँ खड़ी हो रही हैं उनका निदान हम सात्विक वृत्ति के साथ कर सकते हैं।

आज समस्त विश्व में जो दूरियाँ बन रही हैं उनका निराकरण गीता के माध्यम से किया जा सकता है शिक्षा जगत् में आमूल–चूल परिवर्तन गीता के विचारों से कर सकते हैं आज प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह शैक्षिक जगत का हो या सामाजिक, राजनैतिक सभी को सात्विक वृत्ति की आवश्यकता है, ऐसा गीताकार का स्पष्ट संदेश है।

क्षर–अक्षर हमारे शैक्षिक जगत में एक तत्वनिष्ठा खड़ी कर सकता है। गीता एक शाश्वत सिद्धान्त की बात करती है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–"इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं उनमें सर्वभूत यानी यह जो शरीर है यह क्षर है यानी नाशवान है और सर्वभूतों में स्थित जो जीवात्माएँ हैं वे अक्षर कही जाती हैं।" गीता इस जगत की परिवर्तनशीलता को बताती हैं कि इस जगत में क्या नष्ट होता है और क्या नहीं, वह कहती है कि समस्त भूत प्राणियों का जो यह वाह्य आकार है यह परिवर्तशनील है,

नाशवान है क्षर है लेकिन इस आकार को चलाने वाली सत्ता यानी परमात्मा अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता।

इस दिव्य संदेश द्वारा हम शिक्षा जगत में एक क्रान्तिकारी मोड़ ले आ सकते हैं। यह दिव्य संदेश सभी मानव जाति के लिए उपयोगी है, लाभकारी है।

वर्तमान परिवेश में गीता के शैक्षिक निहितार्थ अत्यन्त व्यावहारिक एवं उपादेय है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार जीवन विकास के तीन अंश हैं जिसका वर्णन श्रीकृष्ण ने गीता के सत्रहवें अध्याय के श्लोक 14, 15 एवं 16 में किया है।

तप के तीन प्रकार गीताकार ने बताये हैं तप से मानव दिव्य बनता है। तप तीन प्रकार का है—शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक।

देव ब्राह्मण, गुरु एवं विद्वानों का पूजन, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा शारीरिक तप कहा जाता है।

किसी को उद्वेग न करने वाली सत्य, प्रिय एवं हितकारी वाणी बोलना एवं स्वाध्याय का अभ्यास वाणी का तप कहा जाता है।

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, आत्म संयम, नियंत्रण एवं भावना की शुद्धि मन का तप कहा जाता है।

शैक्षिक निहितार्थ की दृष्टि से तप की बहुत उपयोगिता है। विद्यार्थियों को व्यायाम करना ही चाहिए इससे शरीर सुदृढ़ होता है।

दूसरे के साथ रहना आना चाहिए समाज में, कुटुम्ब में, किस प्रकार रहना है यह विद्यार्थी को सीखना चाहिए। गीताकार के अनुसार सच्चा शिक्षण उसे कहते हैं जिसमें

वाणी, शरीर और मन को शिक्षण मिलता है। आज के वर्तमान परिवेश में गीता के अनुसार विद्यार्थियों को शिक्षा मिलनी चाहिए जिसके कारण उनका मानसिक, शारीरिक एवं वाचिक विकास हो सके।

तप का व्यावहारिक अर्थ है किसी निःस्वार्थ उद्देश्य हेतु आत्म नियंत्रण पूर्ण साधना। साधना वह लगन है जिससे वह ऊर्जा उत्पन्न होती है जो बड़े से बड़े कार्य सम्पन्न कराने में सहायक सिद्ध होती है। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को तप द्वारा ही अपने कर्तव्य के प्रति दृढ़ किया था। कार्य में विलीनता तप कहलाती है जिससे कार्य कुशलता प्राप्त होती है।

यदि आज हम शिक्षा जगत में गीता के शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तप को करने का प्रयास करें तो इससे विद्यार्थियों में आत्म संयम एवं अपने लक्ष्य के प्रति वे एकाग्र हो सकते हैं। जिसके परिणाम स्वरूप वे अपना व्यक्तिगत जीवन तथा सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास कर सकते हैं। गीता का शैक्षिक मूल्य आज भी उतना ही पूर्ण व्यवहारिक है जितना कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व था।

मनुष्यों की प्रकृति दैवी, आसुरी तथा राक्षसी इन भेदों के कारण तीन प्रकार की है। गीता के सोलहवें अध्याय में केवल दो प्रकार की प्रकृति का वर्णन किया गया है। जैसे–दैवी तथा आसुरी एवं राक्षसी सम्पदा।

दैवी सम्पदा का वर्णन गीताकार ने निम्नलिखित ढंग से किया है– "भय का सर्वथा अभाव, अन्तःकरण की पूर्ण निर्मलता, तत्वज्ञान के लिए ध्यान योग में निरन्तर दृढ़ स्थिति और सात्विक दान, इन्द्रियों का दमन, वेद शास्त्रों का पठन–पाठन तथा ईश्वर

के नाम और गुणों का कीर्तन, स्वधर्म पालन के लिए कष्ट सहन और शरीर तथा इन्द्रियों के सहित अन्तःकरण की सरलता।" मन वाणी और शरीर से किसी प्रकार भी किसी को कष्ट न देना, यथार्थ एवं प्रिय भाषण आदि बताया है।

गीताकार ने दैवी सम्पदा को उत्तम बताया है एवं दैवी सम्पदा के गुणों को स्वीकारा है इसी गुण के कारण इस समस्त मानव समुदाय में एक तात्विक तत्वनिष्ठा खड़ी हो सकती है। आज की शैक्षिक परिस्थिति में चाहे वह शिक्षक हो या विद्यार्थी हो या सामाजिक व्यक्ति हो या राजनेता हो सभी के लिए यह दैवी सम्पदा अत्यन्त उपादेय है।

दैवी सम्पदा का पालन एवं अनुकरण, चिंतन, मनन यदि आज किया जाये तो हमारी शैक्षिक परिस्थितियों में एक क्रान्तिकारी बदलाव आ सकता है जिससे एक दैवी गुणें से युक्त समाज बन सकता है और ऐसा ही दैवी समाज इस देश के लिए एवं समाज के लिए राष्ट्र के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण बन सकता है।

आज की परिस्थिति में गीता ही इस विश्व को एक नया वैचारिक दृष्टिकोण दे सकती है। क्योंकि गीता मानव जीवन को एक प्रयोगशाला मानती है इसलिए गीता के उपदेशों का, सिद्धांतों का, प्रयोग अपनी जीवन की प्रयोशाला में होना चाहिए ऐसा गीताकार का कहना है।

सम्पूर्ण गीता शिक्षा से परिपूर्ण है उसकी एक–एक पक्ति में ज्ञान एवं विवेक भरा हुआ है यही कारण है कि जितने भी हमारे देश के महापुरुष हैं। जैसे–विनोवा भावे, लोकमान्य तिलक, महात्मा गाँधी, डा० राधाकृष्णन, अरविन्द योगी सभी ने गीता से

शिक्षा एवं ज्ञान लिया तथा सभी ने एक स्वर से कहा कि गीता का ज्ञान ही इस जगत को दैवी गुणों से परिपूर्ण कर सकता है। यह दैवी गुण सम्पूर्ण मानव जाति को आशा, उत्साह, उल्लास से भर सकता है तथा अपने कर्तव्य कर्मों के प्रति जागृत कर सकता है।

गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं–

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफल हेतु र्भूमा ते सङगोऽस्त्व कर्मणि।।

गीता **(अध्याय 2–47)**

योगस्थः कुरु कर्मणिसङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्धयसिद्धयो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

(गीता अ० 2 श्लोक 48)

तेरा कर्म करने में ही अधिकारी है। उसके फलों में कभी नहीं। इसलिये तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

हे धनंजय ! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असीद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्य कर्मों को कर समत्व ही योग कहलाता है।

आज के मानव की दिनचर्या व्यस्ततम रहती है। वह जीवन की भाग दौड़ में निरन्तर लगा रहता है। कार्य की स्पर्धा से वह सदैव दबाब अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति की दबा से मुक्ति, असफलता के भय से पलायन का रचनात्मक निदान श्रीमद् भगवद् गीता प्रदान करती है। गीता कर्म को यज्ञ की संज्ञा प्रदान करती है। किसी श्रेष्ठ लक्ष्य के लिए कर्मफल का बलिदान कर्म की सफलता का आश्वासन है। कर्म की प्रेरणा, भावना की अपेक्षा बुद्धि से मिलनी चाहिए। भाव जनित कर्म कुछ समय पश्चात शिथिल

पड़ जाते हैं परन्तु बौद्धिक कर्म में मनुष्य मनोयोगपूर्वक तत्परता दिखाता है। अतः कर्म में रोग, द्वेष, भय, क्रोध, लोभ, आदि भावों का कोई स्थान नहीं। ईश्वर को कर्मफल का समर्पण करने से कर्म यज्ञ बन जाता है। (गीता अध्याय 3 श्लोक–9)

सामान्यतः कर्म को बन्धन का कारण तथा आध्यात्मिक उत्थान में बाधक माना गया है। परन्तु गीता इसका विरोध करती है कर्म करना बन्धन का कारण नहीं अपितु कर्मफल की कामना बन्धन का कारण है। गीता तो निरन्तर तथा निःस्वार्थ भाव से कर्म करने का आदेश देती है, अतः मुक्ति कर्म का परित्याग करने से नहीं बल्कि निष्काम कर्म करने से होगी।

कर्म तभी मुक्ति का साधन बनेगा जब वह निष्काम भाव से किया जाये। गीता में आसक्ति से कर्म करने वालों को आज्ञानी, मूर्ख तथा मोहित बताया है।

श्रीकृष्ण स्वयं अपना उदाहरण देते हुए स्पष्ट कहते हैं कि हे अर्जुन ! मुझे इन तीनों लोकों में न तो कोई कर्तव्य करने को है और न प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त है, फिर भी मैं कर्म करता हूँ। यदि में कर्म न करुँ तो बहुत बड़ी हानि हो जायेगी क्योंकि समस्त मानव जाति मेरा अनुसरण कर आलसी हो जायेगी। (गीता अध्याय 4–23)

कर्मयोग बिना किसी भेदभाव के प्रत्येक मानव के लिए अपरिहार्य है।

गीता के अनुसार कर्मयोग बुद्धियोग है–क्योंकि कर्मयोग बुद्धि के आयाम पर ही होता है। श्रीकृष्ण के संदेश का अर्जुन की बुद्धि पर व्यापक प्रभाव पड़ा। उसके व्यक्तित्व का भावात्मक पक्ष बुद्धि के द्वारा परिवर्तित हुआ। उसका मोह, संशय विषाद नष्ट हो गया। उसने इस बात को स्वीकार करते हुए ही यह कहा कि हे माधव ! ''आपकी कृपा

से मेरा मोह नष्ट हो गया है, मैंने स्मृति (बुद्धि जागरण) प्राप्त कर ली है अब मैं संशय रहित हो आपकी आज्ञा का पालन करुँगा अर्थात् युद्ध करुँगा। (गीता अध्याय 18 श्लोक–73)

कर्मयोग का लक्ष्य पुरुषार्थ की प्राप्ति ही नहीं बल्कि मानव समाज के एकीकरण, स्वयं नियन्त्रण सेवा तथा विनय पूर्वक व्यवहार भी है।

फल की इच्छा रखकर कर्म करने पर कितनी ही बार अपनी इच्छानुसार फल नहीं मिला तो दुःख होता है, जीवन में निराशा आती है, कर्म में मन लगाने का नाम है कर्मयोग। कर्मयोग में अमर्याद शक्ति है। वह अनन्त फलदायी है। फल की इच्छा रखकर कर्म किया गया तो कर्म में स्थित अमर्याद शक्ति का अनुभव नही होगा जैसे अध्ययन का कर्म।

कर्म का विचार अति गहन है। कर्म में तीन भाग हैं– हेतु, क्रिया और फल। कोई भी कर्म किया गया तो उसके पीछे हेतु होता है, हेतु के बिना कर्म नहीं होता। उसी प्रकार किसी भी इन्द्रिय की क्रिया बिना कर्म के नहीं होती। बिना हेतु कर्म पागल मनुष्य का होता है क्रिया बिना कर्म काल्पनिक होता है। हेतु और क्रिया को त्याग नहीं सकते। परन्तु फल को त्याग सकते हैं कर्म में हेतु और क्रिया का योग्य विचार होगा तो कर्म सुन्दर बनेगा। हेतु और कर्म के विचार में फल का विचार घुसने पर गति कम हो जाती है, कर्म की एकाग्रता नष्ट हो जाती है।

फल त्याग की भाषा सभी को भयंकर लगती है। फल त्याग का अर्थ फल को नाली में फेंक देना नहीं है। फल को प्रभु के चरणों में अर्पण करना होता है। कर्म का

फल हमारे पुरुषार्थ से नहीं आता है ! फल ईश्वर की इच्छा से मिलता है फल ईश्वर देते हैं यह ज्ञान मनुष्य को होना चाहिए ऐसा गीता कहती है। खेत में हल जोतने का काम मनुष्य का है बीज बोने का काम उसी का है पानी देने का काम उसी का है परन्तु फसल तैयार करने का काम प्रभु करते हैं यानी फल मनुष्य के हाथ में नहीं है, ईश्वर के हाथ में है।

फल के हेतु ही जो कर्म किया जाता है वह कर्म गौण बनता है और फल ही प्रधान बन जाता है उससे कर्म में एकाग्रता कम होती है दूसरी बात यह है कि अगर फल प्राप्त नहीं होगा तो मनुष्य निराश बनता है और कर्म को छोड़ देता है। अगर निर्धारित फल प्राप्त हुआ है तो वह शायद उन्मत्त बनता है और कर्म छोड़ देता है। क्योंकि उसे लगता है कि अब मुझे कर्म की क्या आवश्यकता है। उदाहरण–परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थी उन किताबों को दुबारा नहीं पड़ता है। स्नातक होने के बाद ऐसा समझकर कि मेरा विद्यार्थी जीवन समाप्त हो गया है, वह किताबों को सदा के लिए दूर रख देता है। लेकिन अगर कर्तव्यनिष्ठा से कर्म किया गया तो उसका फल मिले या न मिले वह कर्म नहीं छूटता, क्यों कि वह कर्म के लिए कर्म होता है।

निष्काम कर्मयोग का एक और विचार शोध कर्ता का है कि गीता के निष्काम कर्मयोग से तात्पर्य है–कि कर्मजनित फल के प्रति अनासक्ति अर्थात् अधिकार भाव का अभाव हो जाना, द्वैतभाव का तिरोहित हो जाना, सभी के प्रति अद्वैत की भावना विकसित करना, और एक ऐसी स्थिति जिसमें अपना एवं दूसरे की भावना ही न रहे, यानी अनेक व्यक्तियों में अपने अहं को इतना समरस कर देना कि कुछ शेष ही न रहे केवल शून्य

ही शेष बचे, ऐसी भावना का विकसित होना ही निष्काम कर्म है जब व्यक्ति की द्वैत भावना बिल्कुल समाप्त हो जाती है और उसके फल का उपभोग अनेक व्यक्ति करने लगते हैं ऐसी उच्च भावना का होना ही निष्काम कर्मयोग है।

गीता की शिक्षा आज की परिस्थिति के लिए अत्यन्त प्रासंगिक है। गीता का निष्काम कर्मयोग अत्यन्त व्यावहारिक है यदि इस निष्काम कर्मयोग का पालन या अनुकरण किया जाय तो विद्यार्थियों की निराशा एवं हताशा सदा–सदा के लिए दूर हो जायेगी। शिक्षकों में जो असन्तोष है उसका समाधान गीता के निष्काम कर्मयोग से ही हो सकता है। गीता विश्व के समस्त प्राणी को निष्काम कर्मयोग करने की शिक्षा देती है यानी बिना अपेक्षा, बिना आग्रह केवल प्रभु प्रीत्यर्थ कर्म करने को गीता कहती है। ऐसा करने से व्यक्ति सुख–दुःख में समानवृत्ति के साथ जीवन जी सकता है और उसका जीवन सावधानी बन सकता है। हमारे देश में जितने भी महापुरुष रहे जैसे महात्मा गाँधी, विनोवा भावे, अरविन्द योगी, तिलक आदि ने कहा है कि निष्काम कर्मयोग के द्वारा सम्पूर्ण विश्व में शान्ति एवं समरसता आ सकती है।

उपरोक्त विवेचन से गीता दर्शन के शैक्षिक निहितार्थों का मूल्यांकन अतिशय उपयोगी हैं व्यावहारिक है समस्त मानव समाज के लिए अनुकरणीय है ऐसा शोधकर्ता का मानना है।

सप्तम अध्याय : सारांश, निष्कर्ष एवं सुझाव

करना इसमें ही जीवन की इतिकर्तव्यता समझकर मनुष्य "भस्सी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः" इस चार्वाक वृत्ति का समर्थन कर रहा है। इससे आगे उसकी दृष्टि ही नहीं पहुँचती। वह दूसरा कुछ विचार ही नहीं करता और इसके अतिरिक्त कुछ करणीय है ऐसा उसको लगता ही नहीं।

आज सर्वत्र अशान्ति फैली हुई है। सर्वत्र असमाधान व्याप्त है। भोग लालसा अमर्यादित स्तर तक बढ़ गयी है। परिणामस्वरुप दुःख से त्रस्त और ग्रस्त समाज, आज के बुद्धिमानों तथा विद्वानों का इस स्थिति के निराकरण की अपेक्षा से आव्हान कर रहा है।

इसे देश का दुर्भाग्य ही कहेंगे कि हमारा देश सदियों तक विदेशी आक्रान्ताओं का दास रहा है। फलस्वरुप हमारे आचार–विचार तथा मान्याताओं में भी व्यापक परिवर्तन हुये हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् देश में हमने शिक्षा के जिस स्वरुप को अंगीकार किया, उसमें पाश्चात्य जीवन शैली तथा जीवन मूल्यों का प्रधान्य है तथा देश की सांस्कृतिक विरासत मात्र पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित रह गयी है जिसका परिणाम यह हुआ है कि न तो हम अपनी सांस्कृतिक विरासत के अध्येयता और उत्तराधिकारी ही बन सके और न पूर्ण रुपेण पाश्चात्य जड़वादी सोच को ही अंगीकार कर सके। सच तो यह है कि आज भी देश का वह जन समुदाय जिसे हम अशिक्षित कहते हैं, अपनी प्राचीन सांस्कृतिक विरासत का वाहक है तथा उसके व्यवहार का नियामक तत्व एक चेतन सत्ता है जबकि तथाकथित शिक्षित वर्ग उत्तरोत्तर आस्थाविहीन होता जा रहा है तथा उसके

लिए पुरानी मान्याताएँ एवं चेतन सत्ता मूलक आस्थायुक्त जीवन शैली मात्र अन्धविश्वास प्रतीत हो रहे हैं।

परिणामतः वर्तमान पीढ़ी द्वन्द्व के परिवेश में जीने के लिये विवश है तथा निराशा, कुण्ठा, हताशा, ईर्ष्या, वैमनस्य इत्यादि उसकी नियति बन गयी है अतएवं यह आवश्यक है कि हम नयी पीढ़ी को एक ऐसा शैक्षिक परिवेश उपलब्ध करायें, जिसमें वर्तमान के विद्यालय हमारी सांस्कृतिक विरासत के प्रेरणास्रोत बन सकें तथा वे वर्तमान की चुनौतियों का सामना करने के लिये सामर्थ्य युक्त पीढ़ी का निर्माण करें।

भागवद्गीता भारतीय दर्शन में एक समन्वयवादी दर्शन का प्रतिपादन है। नन्द किशोर देवराज के शब्दों में "भागवद् गीता के रूप में आस्तिक हिन्दू धर्म और दर्शन ने यह प्रयत्न किया है कि भिन्न–भिन्न मतों एवं मार्गो का एक सशक्त समन्वय की स्थापना की जाए। वहाँ तक उसका तत्व दर्शन भी निर्गुण, और सगुण ब्रह्म सांख्य, के प्रकृतिवाद, प्राचीन उपनिषदों के ब्रह्मवाद और परवर्ती के उपनिषदों के ईश्वरवाद में समन्वय प्रस्तुत करने की दृष्टि से नगण्य नहीं है।"

वस्तुतः गीता में प्रतिपादित अध्यात्म मूलक दार्शनिक मान्यता एक व्यवहारिक दर्शन है जो स्पष्ट उदघोष करता है कि आध्यात्म मात्र बौद्धिक विलास नहीं, अपितु यह आचार शास्त्र तथा एक उत्कृष्ट जीवन शैली है।

अस्तु, वर्तमान परिवेश में यह समीचीन होगा कि गीता दर्शन में प्रतिपादित सिद्धांतों तथा उसमें निहित शैक्षिक मर्मो का तात्विक विवेचन किया जाये तथा एक ऐसे

व्यावहारिक शिक्षा दर्शन का प्रतिपादन किया जाये जो वर्तमान के झंझावतों में मानव के व्यवहार के लिये सशक्त पथ प्रदर्शक बन सके।

गीता भारतीय संस्कृति का एक प्रमुख प्रतिनिधि ग्रन्थ है। गीता में श्रीकृष्ण द्वारा मोहग्रस्त अर्जुन को कराये गये कर्तव्य बोध के माध्यम से भारतीय दर्शन तथा संस्कृति पर विहंगम प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत शोध में शैक्षिक निहितार्थ से तात्पर्य गीता में शिक्षा की दृष्टि से निहित संदेशों को उद्घाटित करना है। दूसरे शब्दों में गीता के उपदेश प्रकारान्तर से जीवन के उद्देश्य, शिक्षा की संकल्पना, शिक्षा के उद्देश्य इत्यादि के सन्दर्भ में निहित मर्म को उद्घाटित करते हैं। अर्थात् गीता के उपदेश के माध्यम से कहीं गयी कथा में प्रकारान्तर से दिये गये संदेशों का शिक्षा के स्वरुप के निर्धारण हेतु सामान्यीकरण किया गया है।

शोध विषय का पुनर्कथन

गीता दर्शन पर आधारित शोध विषय का अधोलिखित शीर्षक था–"वर्तमान परिवेश में गीता दर्शन के शैक्षिक निहितार्थों का समालोचनात्मक अध्ययन"।

शोध उद्देश्य

प्रस्तुत शोध विषय के अधोलिखित प्रमुख उद्देश्य थे–

1. भगवद्गीता में प्रतिपादित दर्शन का संक्षिप्त विवेचन करना।
2. भगवद्गीता में प्रतिपादित आधारभूत सिद्धांतों का विवेचन करना।
3. भगवद्गीता में अधोलिखित के परिप्रेक्ष्य में निहित मान्यताओं का विवेचन करना।

अ. जीवन का उद्देश्य ।

ब. शिक्षा की संकल्पना ।

स. शिक्षा के उद्देश्य ।

द. पाठ्यक्रम एवं शिक्षण विधि तथा मूल्यांकन ।

य. शिक्षक एवं शिक्षार्थी के गुण ।

र. शिक्षक एवं शिक्षार्थी के पारस्परिक सम्बन्ध।

4. गीता के शैक्षिक निहितार्थों का मूल्यांकन करना।

भगवद् गीता की रचना उस महान आन्दोलन के बाद की है जिसका प्रतिनिधित्व प्रारम्भिक उपनिषदें करती हैं। महाभारत का एक भाग होने से कभी–कभी यह शंका की जाती है कि गीता को बाद में चलकर महाभारत में मिला दिया गया है। तैलंग भी विशेषकर इसी निर्णय के साथ सहमत होते हुए कहते हैं कि भगवद् गीता एक स्वतंत्र ग्रन्थ है जिसे महाभारत के ग्रन्थकार ने अपना प्रयोजन सिद्ध करने के लिये महाभारत में प्रविष्ट करा लिया है। परन्तु महाभारत में कई स्थानों पर भगवद् गीता का उल्लेख मिलता है जो यही संकेत करता है कि महाभारत के निर्माण काल से ही गीता को उसका एक वास्तविक भाग माना जाता रहा है। दोनों को एक मान लेने पर भी गीता के रचनाकाल का ठीक–ठीक निर्णय नहीं हो पाता है। तैलंग ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी को गीता का रचनाकाल मानते हैं। आर० जी० भण्डारकर ईसा पूर्व चौथी शताब्दी को गीता का रचना काल मानते है तथा गार्वे गीता के प्रारम्भिक आकार को ईसा से दो सौ

वर्ष पूर्व और वर्तमान को ईसा से 200 वर्ष पश्चात मानते हैं। विभिन्न मतभेदों को ध्यानगत रखते हुए इसकी प्राचीन वाक्य रचना और आन्तरिक निर्देशों से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि इसका काल ईसवीं पूर्व पाँचवी शताब्दी कहा जा सकता है।

गीता की रचना का श्रेय व्यास को दिया जाता है जो महाभारत के पौराणिक संकलनकर्ता हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में गीता की दार्शनिक दृष्टि में (द्वितीय अध्याय) गीता पर तात्विक विचार किया गया है। गीता के प्रथम अध्याय से अठारहवें अध्याय तक शोधार्थी ने प्रत्येक अध्याय पर क्रमशः संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाला है जो निम्नवत् है–

गीता का प्रारम्भ धृतराष्ट्र के द्वारा संजय से पूँछे गये प्रश्न में 'मामकाः पाण्डावाश्चैव' (मेरे पुत्र एवं पाण्डव) शब्द विशेष ध्यान खींचते हैं। 'मेरे–तेरे' की वृत्ति ने ही महाभारत के युद्ध का निर्माण किया है। इस युद्ध के मूल में राज्य प्राप्ति नहीं, वरन न्याय प्राप्ति थी।

अर्जुन, निर्बल, कायर नहीं था। वह मात्र मोह के कारण युद्ध से पलायन करना चाहता था। परन्तु उसके इस मोह पर ही गीता ने प्रहार किया है।

गीता के दूसरे अध्याय में अर्जुन के विषाद से मुक्ति हेतु श्रीकृष्ण है। आत्मा की अमरता और अखंण्डता देह की क्षुद्रता, स्वधर्म की अबाधता और स्थित प्रज्ञावस्था का प्रतिपादन करते हैं। इस अध्याय में बुद्धि प्रधान बातें हैं। इसमें सूत्र रूप से जीवन शास्त्र के सिद्धांतों को बताया गया है।

तीसरे अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने प्रश्न किया कि 'यदि कर्म योग मार्ग में भी कर्म की अपेक्षा बुद्धि ही श्रेष्ठ मानी जाती है तो मैं अभी स्थितप्रज्ञ की भाँति अपनी बुद्धि को सम किये लेता हूँ, तो फिर आप मुझसे इस युद्ध के समान घोर कर्म करने के लिये क्यों कहते है? इसका कारण यह है कि कर्म की अपेक्षा बुद्धि को श्रेष्ठ कह देने से इन प्रश्नों का निर्णय नहीं हो जाता है कि युद्ध क्यों करें ?'

बुद्धि को सम रखकर उदासीन क्यों न बैठे रहें बुद्धि को सम रखने पर भी कर्म सन्यास किया जा सकता है ? इन प्रश्नों का उत्तर देकर श्रीकृष्ण ने यह अध्याय समाप्त कर दिया है कि काम, क्रोध आदि विकार बलात्कार से मन को भ्रष्ट कर देते हैं, अतएव अपनी इन्द्रियों का निग्रह करके प्रत्येक मनुष्य को अपना मन अपने अधीन रखना चाहिए।

सारांश स्थिति प्रज्ञ की तरह बुद्धि की समता हो जाने पर ही कर्म से किसी का छुटकारा नहीं अतएव यदि स्वार्थ के लिये न हो तो भी लोक संग्रह के लिये निष्काम बुद्धि से कर्म करते ही रहना चाहिए। इस प्रकार कर्म योग की आवश्यकता सिद्ध की गई है।

'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'—सब कर्मो का लय ज्ञान में हो जाता है कर्म स्वयं बंधन नहीं होते, बंधन केवल अज्ञान से उत्पन्न होता है। अर्जुन को यह उपदेश देकर इस अध्याय को पूरा किया गया है कि अज्ञान को छोड़ कर्म योग का आश्रय कर और लड़ाई के लिये खड़ा हो जा। सांराशः इस अध्याय में ज्ञान की इस प्रकार प्रस्तावना की गई है कि कर्म योग मार्ग की सिद्धि के लिये ही साम्य बुद्धि रूप ज्ञान की आवश्यकता है।

(गीता अध्याय 5 श्लोक 2) में इसी सिद्धांत को दृढ़ करने के लिये श्रीकृष्ण कहते हैं कि सन्यास या सांख्य निष्ठा से जो मोक्ष मिलता है वही कर्म योग से भी मिलता है। इतना ही नहीं परन्तु कर्म योग में जो निष्काम बुद्धि बतलाई गयी है, उसे बिना प्राप्त किये सन्यास सिद्ध नहीं होता और जब वह प्राप्त हो जाती है तब योग मार्ग से कर्म करते रहने पर भी ब्रह्म प्राप्ति अवश्य हो जाती है।

इस अध्याय के अन्त में कहा है कि जिसकी बुद्धि कुत्ता, चाण्डाल, ब्राह्मण, गौ, हाथी इत्यादि के प्रति सम हो जाती है और जो सर्वभूतान्तर्गत, आत्मा की एकता की पहचान कर अपने व्यवहार करने लगता है उसे बैठे बिठाये ब्रह्म निर्वाण रूपी मोक्ष प्राप्त हो जाता है। मोक्ष प्राप्ति के लिये उसे कहीं भटकना नहीं पड़ता, वह सदा मुक्त ही है।

छठवें अध्याय में पहले ही श्लोक में श्रीकृष्ण ने अपना मत स्पष्ट बतला दिया है कि जो मनुष्य कर्म फल की आशा न रख केवल कर्तव्य समझकर संसार के प्राप्त कर्म करता रहता है वहीं सच्चा योगी और सच्चा सन्यासी है। जो मनुष्य अग्नि होत्र आदि कर्मों का त्याग कर चुपचाप बैठा रहे वह सच्चा सन्यासी नहीं है।

इस शोध ग्रन्थ में गीता की दार्शनिक दृष्टि में शोधकर्ता ने गीता के सातवें अध्याय में क्षराक्षर सृष्टि के अर्थात् ब्रह्माण्ड के विचार को आरम्भ करके श्रीकृष्ण ने प्रथम अव्यक्त अथवा अक्षर परम ब्रह्म के ज्ञान के विषय में यह कहा है कि जो इस सारी सृष्टि को पुरुष और प्रकृति को मेरे ही पर और अपर स्वरुप जानते हैं और जो इस माया के परे अव्यक्त रूप को पहचानकर मुझे भजते हैं उनकी बुद्धि सम हो जाती है तथा उन्हें

मैं सद्गति देता हूँ और फिर उन्होंने अपने स्वरुप का इस प्रकार वर्णन किया है कि सब देवता, सब प्राणी, सब कर्म, सब यज्ञ और सब आध्यात्म मैं ही हूँ, मेरे सिवाय इस संसार में अन्य कुछ भी नहीं है।

आठवें अध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने आध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैव और अधिभूत शब्दों का अर्थ पूछा है। इन शब्दों का अर्थ बतलाकर श्रीकृष्ण ने कहा है कि इस प्रकार जिसने मेरा स्वरुप पहचान लिया उसे मैं कभी नहीं भूलता।

नवें अध्याय में यही विषय है। इसमें श्रीकृष्ण ने उपदेश किया है कि जो अव्यक्त परमेश्वर इस प्रकार चारों ओर व्याप्त है उसके व्यक्त स्वरुप की भक्ति के द्वारा पहचान करके अनन्य भाव से उसकी शरण में जाना ही ब्रह्म प्राप्ति का प्रत्यक्ष व गम्य और सुगम मार्ग अथवा राज मार्ग है और इसी को राजविद्या या राजगुह्य कहते हैं और अन्त में कहा है कि–''सब कर्मो को मुझे अर्पण कर देने से उनके शुभाशुभ फलों से तू मुक्त हो जायेगा।'' (गीता अध्याय 9 श्लोक 27, 28)

गीता के दसवें अध्याय में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ! पूरे जगत् में मैं बैठा हूँ. सारी सृष्टि मेरी विभूति ही है। तेरी आँख में जितना विभूतिमत्व होगा उतना ही जगत विभूति से व्याप्त दिखेगा। अतः मैं सर्वत्र व्याप्त हूँ फिर भी यदि तू जानना चाहता है तो मैं कहता हूँ' ऐसा कहकर श्री कृष्ण एक के बाद एक विभूति समझाते हैं और कहते हैं – जो–जो वस्तुऐं, ऐश्वर्य, शोभा एवं प्राण से युक्त हों वह सब मेरे तेज के अंश से ही उत्पन्न हुयी है, ऐसा समझ (अध्याय 10 श्लोक 41)

यहाँ पर श्रीकृष्ण ने सर्वव्यापकता समझायी है, अणु–अणु में शक्ति व्याप्त है, चेतन सर्वत्र है। परमात्मा वासुदेव चराचर में है। यह जानने के लिये प्रारम्भ में कहाँ–कहाँ भगवान की विभूति देखनी चाहिए तथा उस दृष्टि का विकास धीरे–धीरे कैसे करते जाना है, ये सब बातें श्रीकृष्ण ने यहाँ कही हैं।

ग्यारहवें अध्याय में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना विश्वरूप प्रत्यक्ष दिखलाया है और उसकी दृष्टि के सम्मुख इस बात की सत्यता का अनुभव करा दिया है कि मैं ही (परमेश्वर) सारे संसार में चारों ओर व्याप्त हूँ परन्तु इस प्रकार विश्वरूप दिखलाकर और अर्जुन के मन में यह विश्वास करा के कि– 'सब कर्मो का करने वाला मैं ही हूँ।' श्रीकृष्ण ने तुरन्त कहा है कि– "सच्चाकर्ता तो मैं ही हूँ तू निमित्त मात्र है, इसलिए निःशंक होकर युद्ध कर।" (गीता अ० 11 श्लोक 33)।

श्रीकृष्ण यहाँ सगुण और निर्गुण भक्ति के सम्बन्ध में समझाते हैं। सगुण भक्ति करने वालों की यदि भूल हो तो उन्हें सौम्य सजा मिलती है, निर्गुणों की भूल के लिए कठोर सजा है। सगुण और निर्गुण में भेद नहीं है ऐसा कहकर भक्तियोग का खण्ड समाप्त करते हैं। कर्म और ज्ञान दोनों को जोड़ने के लिये भक्ति सीमेंट का काम करती है।

यहाँ पर श्रीकृष्ण चराचर का विचार समझाते हैं। इस अध्याय से ज्ञानकाण्ड का प्रारम्भ होता है। देह और आत्मा का पृथक्करण श्रीकृष्ण करते हैं, यह तत्वज्ञान बहुत ऊँचा है। यह जो जानते हैं, वे जगत् में सब जानते हैं और मेरे स्वरुप को प्राप्त होते हैं।

श्रीकृष्ण ने यहाँ पर प्रकृति के सामर्थ्य का वर्णन किया है। सत्व, रज और तम् इन त्रिगुणों का वर्णन और उन्हें दूर करने का उपाय तथा गुणातीत अवस्था का वर्णन इस अध्याय में है।

यह अध्याय शास्त्र रूप है इसमें सब कुछ सूत्रबद्ध रूप में कहा है। "इति गुहत्तमं शास्त्रं" । श्रीकृष्ण कहते हैं 'अपना ध्येय पुरुषोत्तम बनने का रख।' इस ध्येय पर पहुँचने के मार्ग में त्रिगुण आते हैं उन्हें दूर करने का उपाय भी यहाँ बताया है। ज्ञान, कर्म और भक्ति द्वारा त्रिगुणों को दूर कर। तेजस्विता, ज्ञानमयता और व्यापकता का वर्णन यहाँ है। बाद में जीव और शिव की एकता समझायी है।

यहाँ पर दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति समझायी है। पुरुषोत्तम बनने की सीढ़ी दैवी सम्पत्ति जीवन में लाना और उसका प्रचार समाज में करना। आसुरी सम्पत्ति के सामने युद्ध करने के लिए शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय आवश्यक है यह यहाँ बताया गया है।

इस अध्याय के प्रारम्भ में श्रद्धा का वर्णन किया गया है तथा उसके तीन प्रकार बताये गये हैं और सात्विक श्रद्धा की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है, तत्पश्चात सात्विक श्रद्धा के निर्माण के लिए सात्विक आहार, यज्ञ, तप और दान की आवश्यकता प्रतीत होती है, इसलिए उनका भी वर्णन किया गया है। इन सात्विक, आहर, यज्ञ तप और दान से जो सामर्थ्य प्राप्त होता है उसे प्रभु को अर्पित करना चाहिए ऐसा भी कहा गया है। अन्त में 'ऊँ तत्सत्' का गूढ़ अर्थ बताया है।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में सन्यास योग में श्रीकृष्ण सन्यास और त्याग के बारे में समझाते हैं। यज्ञ, दान, तप और कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। बाद में कर्म

और कर्ता के प्रकार बताते है। तत्पश्चात श्रीकृष्ण ने व्यक्ति जीवन और समाज जीवन बताया है। वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था का वर्णन किया है। चातुर्वण्य की दिव्यता बतायी है। कर्मफल का त्याग समझाकर अन्त में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, ''अब तुझे जो योग्य लगे वह कर।'' यह सब सुनने के बाद अर्जुन कहते हैं– मेरा मोह नष्ट हो गया, मैं सन्देह मुक्त हो गया हूँ। आप जैसा कहेंगे वैसा में करुँगा।' इसके बाद इस अध्याय में सिद्धान्त कहा है कि ''यत्र योगेश्वरः' जहाँ–जहाँ दैवी सामर्थ्य होगा और कर्मयोग होगा वहाँ सब कुछ मिलेगा।

(यहाँ पर गीता पूरी होती है।)

दार्शनिक दृष्टि से गीता में समन्वयवाद की बात की गयी है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों का समन्वय किया गया है। गीता के समन्वय में तो पूर्णज्ञानी, पूर्ण कर्मयोगी और पूर्ण भक्त को स्थान है। पूर्ण ज्ञानी, कर्म भक्ति सहित होता है। पूर्ण कर्मयोगी ज्ञान भक्ति युक्त होता है और पूर्ण भक्त कर्म सहित होता है।

दूसरा समन्वय गीता में प्रवृत्ति निवृत्ति का समन्वय किया गया है। श्रीकृष्ण द्वारा प्रवृत्ति निवृत्ति का समन्वय हुआ। इसी काल में भगवान श्रीकृष्ण आए और उन्होंने संतुलित जीवन के रहस्य और सिद्धान्त समझाये। उनके पश्चात् हजार दो हजार वर्ष तक प्रवृत्ति–निवृत्ति के जीवन सिद्धांतों का समन्वय दिखाई देता है परन्तु बाद में वह संतुलन बिगड़ गया।

जहाँ तक गीता दर्शन पर अद्यतन सम्पन्न शोध कार्यों का प्रश्न है उनमें

अधिकांश शोध कार्य संस्कृत साहित्य तथा दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत किए गये हैं तथा गीता दर्शन का शैक्षिक दृष्टि से अध्ययन बहुत ही अल्पमात्रा में हो सका है। तथापि चटर्जी (1950) के दास (1975) जे.बी. पाण्डेय (1985) एच. केशरी (1986) तथा डॉ० सभाजीत चौबे (1987) एवं हरिद्वार राम (1999) आदि के द्वारा सम्पन्न शोध कार्य एवं तदजनित शोध निष्कर्ष महत्वपूर्ण हैं। गीता के ऊपर अनेक भाष्य लिखे गये हैं। आचार्यों की परम्परा में शंकर, रामानुज, मध्व, बल्लभ, निबार्क आदि ने गीता पर भाष्य लिखे हैं इसके अतिरिक्त समकालीन परम्परा में बालगंगाधर तिलक, श्री अरविन्द कुमार, त्रयंबक, महात्मा गाँधी, डा. राधाकृष्णन आदि अनेक विचारकों की विवेचनाएँ गीता को हृदयंगम करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण एवं सारगर्भित हैं।

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रति प्राचीन एवं अर्वाचीन टीकाकारों का दृष्टिकोण निम्नलिखित है।

शंकराचार्य (788–820 ई०) का ज्ञान योग–शंकराचार्य के कथनानुसार गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ज्ञानयोग' है। शंकराचार्य अपने मत की पुष्टि में गीता का अध्याय चार श्लोक 37 में लिखा है–'ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन' हे अर्जुन ज्ञान की अग्नि में सब कर्म भस्म हो जाते हैं।

रामानुजाचार्य (जन्म 1073 या 11वीं शताब्दी) का भक्तियोग–रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैतवादी थे। ईश्वर,जीव तथा जगदीश इन तीनों के विषय में भी रामानुजाचार्य का मत है कि ये तीनों एक होते हुए भी एक–दूसरे से भिन्न हैं, भिन्न होते हुए

एक–दूसरे के साथ इस प्रकार बंधे हुए, एक–दूसरे से विशिष्ट हैं जैसे शरीर तथा आत्मा की अलग–अलग अनुभूति होते हुए भी इनकी एक ही अनुभूति होती है ऐसा रामानुजाचार्य कहते हैं जीव ईश्वर से विशिष्ट होते हुए भी ईश्वर से पृथक है। जीव अवास्तविक नहीं है मुक्ति की दशा में वह लुप्त नहीं होता तो फिर ईश्वर जीवन को संभालता है और भीतर से ही उसका नियमन करता है यही कारण है कि ईश्वर की जब जीव पर कृपा होती है तब उसका उद्धार होता है इस दृष्टि से रामानुजाचार्य का कहना है कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भक्ति है।

श्री मध्वाचार्य (1199–1276 ई०) इन्होंने एक–तीसरे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिसे 'द्वैत सम्प्रदाय' कहा जाता है जहाँ द्वैत है वहाँ भक्ति है क्योंकि दो में ही उपासना का स्थान हो सकता है इसलिए मध्वाचार्य ने भी गीता का मुख्य विषय 'भक्तियोग' ही माना है।

लोकमान्य तिलक (1856–1920 ई०) का कर्म योग –गीता के अर्वाचीन टीकाकारों ने लोकमान्य तिलक का नाम प्रमुख है। उन्होंने यह घोषित किया कि गीता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ज्ञान नहीं है, भक्ति नहीं, अपितु कर्म है। गीता का आदि, मध्य, अन्त इस बात के साक्षी हैं कि गीता का प्रतिपाद्य विषय कर्मयोग है।

श्री अरविन्द घोष (1872–1950 ई०) का दिव्य कर्म–श्री अरविन्द ने "Essay on the Gita" पर अपने मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय 'कर्मयोगी' नहीं है।

वे कहते हैं कि गीता राजनीति शास्त्र का ग्रन्थ नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन

का ग्रन्थ है। गीता जिस कर्म का प्रतिपादन करती है वह मानव कर्म नहीं अपितु दिव्य कर्म है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में ऐतिहासिक अनुसंधान एवं वर्णनात्मक अनुसंधान विधि आधार बनाकर शोध कार्य सम्पन्न किया गया है। इन विधियों का प्रयोग शोध प्रबन्ध में अधिकतम किया है। कहीं–कहीं आवश्यकता पड़ने पर अन्य विधियों तथा पुस्तकालय कौशल, क्षेत्र अध्ययन, अनुमान विधि आदि का भी सहारा लिया है लेकिन इन सभी विधियों का प्रयोग अति अल्पमात्रा में किया गया है जिस कारण इन विधियों पर प्रकाश डालना अनुसंधान विधि में आवश्यक नहीं है अतः प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को पूर्णता प्रदान करने के लिये मुख्य रूप से वर्णित तीन विधियों–ऐतिहासिक अनुसंधान विधि, एवं वर्णानात्मक विधि तथा सर्वेक्षण विधि पर अनुसंधान विधि (अध्याय) में आवश्यक प्रकाश डाला गया है।

श्रीमद्भगवद् गीता वास्तव में वैदिक दर्शन का सारांश है। इस कथन का अभिप्राय यह है कि गीता में उन समस्त प्रचलित मान्यताओं जो समाज, धर्म, परमात्मा, आत्मा, जीव के सम्बन्ध में है, प्रस्तुत कर उनकी समस्याओं के निराकरण का प्रयास है। वास्तव में सभी दर्शन अपनी मान्यताओं को उचित मानते हैं और दूसरी मान्यताओं का खंडन करते हैं किन्तु गीता में उन सबके सार तत्वों में क्या सामंजस्य है और उनके क्या उद्देश्य हैं, उनके मतों को प्रस्तुत कर सामंजस्य बैठाया गया है।

गीता में दार्शनिक आधार पर यह स्पष्ट किया गया है कि शरीरधारी को कर्म

करना आवश्यक है और इसमें परम ब्रह्म परमेश्वर भी यदि शरीर धारण कर जन्म लेता है तो उसे भी कर्म करना आवश्यक होता है। यदि ऐसा न करें तो कर्म करने की प्रवृत्ति का लोप होगा और जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उसने जन्म धारण किया है वह अपूर्ण रह जायेगा। इसी के साथ यह भी स्पष्ट किया गया है कि कर्म के फल के साथ लिप्तता ही बन्धन का कारण है और उसमें निर्लिप्तता मोक्ष का मार्ग है। इसलिये सभी कर्म और उसके फल को परम ब्रह्म परमेश्वर को समर्पित करके किया जाना चाहिए। इससे अंशी का अपने मूल स्थान से सदैव सम्पर्क बना रहता है और इस शरीर के त्याग के पश्चात उसका उसी में विलीनीकरण हो जाता है, संक्षेप में यही गीता का दार्शनिक अभिमत है।

गीता के दार्शनिक अभिमत में श्री कृष्ण ने आत्मा की अमरता का उपदेश दिया है। गीताकार के अनुसार आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत व पुरातन है। यह शरीरादि से भिन्न षट् विकारों से रहित है। न वह जन्मता है न वह मरता है, वह सत्ता का अनुभव कर कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता है। जब उसका अभाव ही नहीं हो सकता तब आत्मा जो सत् है उसका नाश कैसे होगा ? अर्थात् आत्मा अमर है। इसका विवेचन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में अनुसंधानकर्ता ने किया है।

शोध ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में शोधकर्ता ने यह प्रकाश डाला कि स्थित प्रज्ञता एक वृत्ति है। वह बौद्धिक तथा मानसिक रूप से पूर्ण विकसित (Super Rational) मानव की अवस्था है। स्थितप्रज्ञ आत्मतृप्त, आत्मतुष्ट और आत्मनिष्ठ स्थित में होता है, जिसमें वह निरहंकार बनकर अपने शरीर को चित् शक्ति के हाथों में सौंप देता है। स्थित प्रज्ञ दर्शन में श्रीकृष्ण ने मानव के आन्तरिक विकास को समझाया है।

विभूतियोग में श्रीकृष्ण ने इस विश्व की तरफ दैवी दृष्टि से देखने का दृष्टिकोण दिया है और यह कहा कि–"जो–जो वस्तुऐं ऐश्वर्य, शोभा एवं प्राण से युक्त हों वह सब मेरे तेज के अंश में से ही उत्पन्न हुई हैं, ऐसा समझ।"

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में गीता में गुणों के आधार पर व्यक्तियों के तीन वर्गों का उल्लेख (सतोगुणी, रजोगुणी एवं तमोगुणी) है। गीता में सात्विक बनने के लिये विशेष आग्रह रखा गया है।

इस लोक में क्षर और अक्षर दो पुरुष हैं। उनमें सर्वभूत यानि वह जो शरीर है यह क्षर है [illegible] नाशवान है और सर्वभूतों में स्थित जो आत्मा है वह अक्षर कही जाती हैं।

श्रीमद्भगवद् गीता के अनुसार जीवन विकास के तीन अंग हैं जिसका वर्णन श्रीकृष्ण ने गीता के सत्रहवें अध्याय में किया है। जिसमें तीन प्रकार के तप को बताया है। देव, ब्राह्मण, गुरु एवं विद्वानों का पूजन पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, शारीरिक तप कहा जाता है।

किसी को उद्वेग न करने वाली सत्य, प्रिय एवं हितकारी वाणी बोलना एवं स्वाध्याय का अभ्यास वाणी का तप कहा जाता है।

मन की प्रसन्नता, सौम्यभाव, मौन, आत्मसंयम, नियंत्रण एवं भावना की शुद्धि मन का तप कहा गया है।

गीता ने व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र में दिखायी दे रहे दो प्रकार के आधारभूत विचारों की तरफ संकेत किया है। सद्गुण, दैवी सम्पदा मानव की उच्च प्रकृति एक तरफ

है। दुर्गुण आसुरी सम्पदा मानव की बुरी प्रकृति दूसरी तरफ है।

इन सामाजिक दुर्गुणों को दूर करना और सम्पूर्ण विश्व में एकता का सूत्रपात करना ही दैवी सम्पदा है ऐसा श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में शोधकर्ता ने वर्ण व्यवस्था पर प्रकाश डाला है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।

तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।।

इन चार वर्णों का समूह, गुण और कर्मों के विभागपूर्वक मेरे द्वारा रचा गया है। अर्थात् गुण दोष के आधार पर व्यक्तियों का वर्गीकरण किया गया।

फल की इच्छा रखकर कर्म करने पर कितनी ही बार अपनी इच्छानुसार फल नहीं मिला तो दुःख होता है। जीवन में नैराश्य आता है। कर्म में मन लगाने का नाम है कर्मयोग। कर्म का विचार अति गहन है। कर्म में तीन भाग हैं हेतु, क्रिया और फल। कोई भी कर्म किया गया तो उसके पीछे हेतु अवश्य होता है। बिना हेतु कर्म पागल मनुष्य का होता है, क्रिया बिना कर्म नहीं होता। कर्म, हेतु और क्रिया को त्याग नहीं सकते, परन्तु फल को त्याग सकते हैं। कर्म में हेतु और क्रिया का योग्य विचार होगा तो कर्म सुन्दर बनेगा। हेतु और कर्म के विचार में फल का विचार घुसने पर गति कम हो जाती है, कर्म की एकाग्रता नष्ट हो जाती है।

गीता भी अन्य भारतीय दार्शनिकों की तरह पुर्नजन्म को मानती है। पुर्नजन्म का तात्पर्य है–आत्मा नामक सत्ता का अमर होना और यह शाश्वत तत्व मनुष्य के कर्मानुसार

विभिन्न शरीरों और प्रकृति से उत्पन्न होता है। जिस प्रकार देह धारण करने वाले को इस देह में बालपन, जवानी, बुढ़ापा प्राप्त होता है उसी प्रकार दूसरी देह आगे भी प्राप्त हुआ करती है।

जिस प्रकार कोई व्यक्ति पुराने वस्त्रों को छोड़कर नये वस्त्र ग्रहण करता है उसी प्रकार देही अर्थात् शरीर की आत्मा पुराने शरीर त्यागकर दूसरे नये शरीर धारण करती है।

पुर्नजन्म निसर्ग का अटल नियम है।

गीता के अनुसार धर्म उसको कहते है जिसमें ऐहिक और पारमार्थिक दोनों बातों का सुन्दर विचार किया गया हो। इहलोक और परलोक दोनों लोकों का कल्याण करे वहीं धर्म है। इन दोनों बातों का सुन्दर समन्वयात्मक विचार गीता ने किया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में गीता में प्रतिपादित धर्म के स्वरुप का तात्पर्य किसी मत मतान्तर या सम्प्रदाय से नहीं है, उससे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि धर्मों का अर्थ नहीं समझना चाहिए। गीता में धर्म का स्वरुप कर्तव्य कर्म के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। इसमें धर्म को स्वधर्म या सहज कर्म कहा गया है। सहज कर्म का अर्थ है–जो जन्म के साथ उत्पन्न हों परन्तु व्यक्ति में उन प्रवृतियों को भी जो जन्म के पश्चात् स्वभाव का अंग बन जाती है, उसे सहज धर्म कहते हैं–

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।

सर्वारम्भ हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।

(गीता अ०18/48)

गीता ने धर्म को नियत कर्म कहा है 'नियतं कुरू कर्म त्वम् 'तू अपने नियत कर्म का पालन कर।'नियत कर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।

परवशता और पराधीनता से किये हुए कर्म लाभदायक, सुखदायक, आनन्ददायक और विकास में सहायक नहीं बनते। इसलिए स्वेच्छा और स्वंतत्र बुद्धि से कर्म करना ही श्रेष्ठ कर्मयोग है।

कर्म करने की स्थिति प्रायः दो विकारों को जन्म देती है। एक कर्म के फल का उपभोग और कर्म करने का अहंकार। गीता इन दोनो का हवन–स्वाहा करने को कहती है। गीता कहती है– ''तू हवन करेगा तो तेरा कोई भी कृत्य यहाँ तक कि खेलना भी यज्ञ हो जायेगा।''

प्रस्तुत शोघ प्रबन्ध में गीता कार ने कर्मवाद पर कई बातें समझायी हैं प्रथम बात तो यह है कि कर्मयोग सासांरिक और मुमुक्षु दोनो के लिए है। दूसरी बात अकर्मत्व (अकर्मण्यावस्था) की कल्पना संसारी मानव को पापोन्मुख करने वाली है। अकर्मत्व बहुत ही बुरी बात है। तीसरी बात कोई कर्म करे या न करे परन्तु वह स्वभाववश नित्य होता ही रहता है–''न हि कश्चित क्षणमपि जात तिष्ठत्य कर्म कृत।'' अर्थात् मानव एक क्षण भी कर्म के बिना नहीं रह सकता है। चौथी बात कर्म करने को नकारने वाला व्यक्ति धूर्त ढोगी और मिथ्याचारी है ''मिथ्या चारी स उच्यते'' पाँचवी बात कर्म करके फल त्याग की वृत्ति (अहंकार रहित) रखकर अकर्ता रहने वाला पुरूष श्रेष्ठ है। छठीं बात–जब कर्म होने वाला ही है तो फिर शास्त्र विहित कर्म ही करना चाहिए।

सकाम कर्म बन्धन कारक होते है। निष्काम अर्थात् फल की कामना रहित, परोपकारार्थ एवं कृतज्ञतापूर्वक किए कर्म श्रेष्ठ हैं

कर्म में तीन भाग है –हेतु, क्रिया और फल। कोई भी कर्म किया गया है तो उसके पीछे हेतु होता है। हेतु के बिना कर्म नहीं होता। उसी प्रकार किसी इन्द्रियों की क्रिया बिना कर्म नहीं होता। बिना हेतु कर्म पागल मनुष्य का होता है क्रिया बिना कर्म का कोई अर्थ नहीं होता। हेतु क्रिया को त्याग नहीं सकते, परन्तु फल को त्याग सकते हैं ऐसा गीताकार ने स्पष्ट कहा हैं।

समत्व बुद्धि से युक्त पुरुष कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है। जो ईश्वर के दिव्य कर्मो के स्वरूप को जानता है वह देह को त्यागकर पुनर्जन्मादि से मुक्त हो परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है। ज्ञान के द्वारा पापरहित हुए ज्ञानी पुरुष अपुनरावृत्ति रूप परमगति को प्राप्त करते हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में जीव और जीवन का प्रत्यय विषय में गीताकार ने कहा है–"ममैवांशो" तू मेरा ही अंश है।

सभी के हृदयों का आधारभूत मैं हूँ। प्राणिमात्र के शरीर में एक ही परमात्मा व्याप्त हैं।

जीवन न भोग के लिए है और न केवल त्याग के लिए है जीवन संयम के लिए है।

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।

युक्त स्वप्ना व बोधस्य योगो भवति दुःखहा।।

(गीता अ० 6 श्लोक 17)

गीता के अनुसार जीवन का मुख्य उद्देश्य अधोलिखत हैं–

1. शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक तथा आत्मिक विकास।

2. प्रवृत्ति मार्ग एवं निवृत्ति मार्ग का सन्तुलन।

3. निष्काम कर्मयोगी बनना।

महात्मा गाँधी ने गीता की परिभाषा करते हुए लिखा है–"गीता जीती जागती जीवन देने वाली अमर माता है।"और लोकमान्य तिलक ने गीता के विषय में अपने निम्न वचनो का उल्लेख किया है–"गीता हमारे धर्म ग्रन्थ का एक अत्यन्त तेजस्वी और निर्मल हीरा है।"

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।

(श्रीमद्भगवद्गीता अ० 16 श्लोक 23, 24)

जो पुरुष शास्त्रविधि को त्याग कर अपनी इच्छा से मन माना आचरण करता है वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न परमगति, और न सुख को ही।

इससे तेरे लिए इस कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है। ऐसा जानकार तू शास्त्रविधि से नियत कर्म ही करने योग्य है। ऐसी शिक्षा गीताकार ने मानव जाति को दिया है।

गीता दर्शन के आधार पर शिक्षा के उद्देश्य अधोलिखित उद्देश्य हो सकते है–

1. समग्र मानव में निहित आत्मतत्व की अनुभूति करना।

2. मन को नियंत्रित करने की शिक्षा पर बल।

3. सतोगुणी व्यक्तित्व बनाने पर बल।

4. सृष्टि की तरफ दैवी दृष्टि विकसित करना।

5. निष्काम कर्म करने की भावना जाग्रत करना।

उपनिषद के समान गीता में भी पाठ्य क्रम को दो भागो में विभक्त किया गया है– एक को अपरा विद्या कहा गया है तथा दूसरे भाग को परा विद्या की संज्ञा दी गयी है।

मानव प्रकृति के अनुसार गीता में छात्रों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है–यथा–ज्ञान प्रधान प्रकृति वाले, भावना प्रधान प्रकृति तथा कर्म प्रधान प्रकृति वाले। शिक्षण विधि भी इन तीन प्रकार के विद्यार्थियों के अनुसार तीन प्रकार की हो सकती है–ज्ञानात्मक, भावात्मक तथा कर्म प्रधान।

गीता के अनुसार शिक्षक का व्यक्तित्व प्रभावी एवं मनोहारी होना चाहिए उसे अपने छात्रों को अपने व्यक्तित्व के माध्यम से प्रभावित करना है इसलिए उसका जीवन विवेकशील एवं चिंतनपरक होना चाहिए।

कार्पण्य दोषो पहत स्वभावः पृच्छामि त्वां धर्म संमूढ़ चेताः।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहितन्मे, शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

(गीता अ० 2 श्लोक 7)

शिक्षा का अधिकारी (विद्यार्थी) बनने के लिए गीता प्रधानतः दो गुणों की आवश्यकता को प्रतिपादित करती है एक सज्जनता तथा दूसरा समर्पण की भावना रखना।

गीताकार के अनुसार विद्यार्थी (छात्र) गुरू परायण और गुरू शिष्य परायण होना चाहिए तथा गुरू और शिष्य दोनो ज्ञानापरायण और ज्ञान सेवा परायण होना चाहिए। इन दोनो में जबरदस्त आत्मीयता होनी चाहिए।

षष्ठ अध्याय वर्तमान परिवेश में गीता के शैक्षिक निहितार्थो का मूल्याकन में शोध कर्ता ने प्रस्तुत अध्याय में यह बताया गया है कि वर्तमान परिवेश में गीता की उपादेयता सर्वाधिक हैं गीता सर्वप्रथम बुद्धि के निर्मलीकरण एवं विकास पर जोर देती है इसके अभाव में कोई भी शिक्षा सार्थक नहीं होगी आज जिस प्रकार से नैतिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव हो रहा है उसको पाठ्यक्रम में सम्मिलित करने की बात की जा रही है उसके समाधान में गीता दर्शन एवं शिक्षा एक उपयोगी साधन हैं।

गीता मे श्री कृष्ण ने अपने अवतार का उद्देश्य (कारण) बताया है जब–जब धर्म की अवनति और अधर्म की वृद्धि होता है तब–तब मैं अवतार लेता हूँ

प्रस्तुत अध्याय में श्री कृष्ण के व्यावहरिक दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला गया है तथा धर्म एवं नीति की आवश्यकता गीता के आधार पर बतायी गयी हैं। फिर कर्मयोग की व्यावहारिक जीवन में अनिवार्यता समझायी है।

आज के वर्तमान परिवेश में गीता का कर्मयोग एवं भक्तियोग समाज के लिए अत्यन्त करणीय एवं उपादेय हैं।

आज के युग में जब कि विश्वबंधुत्व के सारे उपाय बालू की भीत पर खड़े दिखाई देते हैं वहीं पर गीता के माध्यम से विश्वबंधुत्व का संदेश पूरे संसार को दिखाया जा सकता है।

गीता के उपदेशों में वह उदारता है जो वैदिक संस्कृति की एक अपनी विशेषता है गीता में सब में भगवान देखने का उपदेश देकर स्वार्थ और परार्थ भाव का अनोखा समन्वय किया गया है।

वास्तव में गीता देश काल से परे है। उसमें सभी प्रकार के स्वभाव वालों को शान्ति मिल सकती है राजा, रंक, सँतं, योद्धा सभी उससे प्रकाश पा सकते है। ऐनीबेसेन्ट के शब्दो में "वह संगीत केवल अपनी जन्मभूमि में ही नहीं बल्कि सभी भूमियों पर गया और उसने प्रत्येक देश में भावुक हृदयों में वही प्रतिध्वनि जगायी है।"

योगेश्वर श्री कृष्ण के अनुसार "कर्मो में कुशलता ही योग हैं।"

गीता का मुख्य उपदेश निष्काम कर्मयोग है निष्काम का अर्थ वैत्यक्तिक कामना से नहीं बल्कि विश्वात्मा जो कि हमारी आत्मा का उच्चपथ है, की कामना से कर्म करना भगवद् कर्म के सफल यंत्र बनना है।

जीवन एक संग्राम है और इसलिए कुरुक्षेत्र की रणभूमि में गीता का गान एक सुयोग्य पृष्ठभूमि का सृजन है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को निमित्त मानकर विश्व के मानव को मात्र को गीता के ज्ञान द्वारा जीवनाभिमुख बनाने का चिरन्तन प्रयास किया है। जीवन रोने के लिए नहीं, भाग जाने के लिए नहीं है, हंसने के लिए है, खेलने के लिए है, संकटों

से हिम्मत से लड़ने के लिए है वैसे ही अखण्ड आशा और दुर्दम्य श्रद्धा के बल पर विकास करने के लिए है।

गीता मानव मात्र को जीवन में प्रतिक्षण आने वाले छोटे–बड़े संग्रामों के सामने हिम्मत से खड़े होने की शक्ति देती है।

गीता दर्शन की शिक्षा वर्तमान परिवेश के लिए अत्यन्त प्रासंगिक है। गीता दर्शन एक व्यावहारिक दर्शन है। एक आचार शास्त्र है मानवी जीवन की उन्नति हेतु प्रयत्नशील रहने वाले को गीता ध्येय देती है।

प्रयत्नवाद गीता का हृदय है गीता में प्रयत्नवाद को अधिक महत्व दिया गया है। जगत में कोई भी वस्तु बिना पुरुषार्थ (यानी प्रयत्न) के प्राप्त नहीं होती। मानव में रही प्रयत्नशून्यता को गीताकार ने नपुंसकता माना है।

श्रीमद्भगवद् गीता वर्तमान युग के लिए उपयोगी है जो व्यक्ति के प्रति सचेष्ट भावना का उद्दीपन कर और कर्म करने की प्रवृत्ति को जागृत करती है। मानव के मन में चल रहे द्वन्द हों अथवा संसार के मध्य उत्पन्न दुःखाच्छादित आकाश का तम कर्म पथ पर अग्रसर होने से ही दूर हो सकता है। इसलिए गीता पग–पग पर सर्वकालीन विभूतिवान बनने हेतु प्रेरणादायक चिरस्थायी शिक्षक है जिसकी उपयोगिता सर्वकालिक तथा सर्वभूत प्राणियों के हित में है।

इस प्रकार गीता जीवन के एक सार्वभौम दर्शन की पुस्तक है।

सुझाव-

भावी शोध की सम्भावना

प्रस्तुत शोध कार्य की उपयोगिता से सम्बन्धित शोध कार्य की सम्भावना इस रूप में दी जा सकती है।

1. श्रीमद्‌भगवद् गीता की शिक्षा एवं आधुनिक शिक्षा का तुलनात्मक अध्ययन।
2. श्रीमद्‌भगवद् गीता का शिक्षा–दर्शन।
3. श्रीमद्‌भगवद् गीता के शिक्षा व्यवस्था का एक आलोचनात्मक अध्ययन।
4. श्रीमद्‌भगवद् गीता में वर्णित शिक्षा का संगठन एवं उसका स्वरूप।
5. श्रीमद्‌भगवद् गीता की शिक्षा की उपादेयता का अध्ययन।
6. श्रीमद्‌भगवद् गीता दर्शन का मनोवैज्ञानिक अनुशीलन ।
7. श्रीमद्‌भगवद् गीता में समन्यवयवाद ।
8. श्रीमद्‌भगवद् गीता में सांख्य–तत्व ।
9. श्रीमद्‌भगवद् गीता में मनोविज्ञान ।

परिशिष्ट एवं संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. ओड डॉ. लक्ष्मीलाल, शिक्षा के मूल आयाम।
2. ओड डॉ. लक्ष्मीलाल, शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमि, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 1973
3. अग्रवाल बी. बी., आधुनिक भारतीय शिक्षा और समस्याएँ, वेदान्त पब्लिकेशन्स, साहनी मार्ग, लखनऊ।
4. आठवले पांडुरंग शास्त्री, गीता पाथेय।
5. आठवले पांडुरंग शास्त्री, संस्कृति चिंतन।
6. आठवले पांडुरंग शास्त्री, व्यास विचार।
7. आठवले पांडुरंग शास्त्री, वाल्मीकि रामायण दर्शन।
8. आठवले पांडुरंग शास्त्री, श्रीकृष्ण जीवन दर्शन।
9. आठवले पांडुरंग शास्त्री, गीतामृतम्।
10. आठवले पांडुरंग शास्त्री, भारतीयों का सांस्कृतिक आदर्श जीवन।
11. आठवले पांडुरंग शास्त्री, विजुगीषु जीवनवाद।
12. आठवले पांडुरंग शास्त्री, श्री सूक्तम्।
13. आठवले पांडुरंग शास्त्री विल्बपत्र।
14. आठवले पांडुरंग शास्त्री, वेदसार शिवस्तवः
15. आठवले पांडुरंग शास्त्री, चैतन्य।
16. आठवले पांडुरंग शास्त्री, युवक।
17. आठवले पांडुरंग शास्त्री, जीवन में क्या कमी है ?
18. आठवले पांडुरंग शास्त्री, वचनं तव
19. आठवले पांडुरंग शास्त्री, तत्वदीप मासिक पत्रिका

20. आठवले पांडुरंग शास्त्री, गीता के पंचप्राण, श्री बल्लभदास झबरी, सदविचार दर्शन, निर्मल निकेतन–2, भाजेकर लेन, मुम्बई, 1995।

21. बाजपेयी डा. एल.बी., भारतीय शिक्षा का विकास एवं सामाजिक प्रवृत्तियाँ, आलोक प्रकाशन, लखनऊ।

22. चतुर्वेदी ज्वाला प्रसाद–मनुस्मृति, रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार।

23. भटनागर एन.आर. स्वरूप, शिक्षा सिद्धान्त, वेदान्त पब्लिकेशन्स लखनऊ।

24. भटनागर प्रो. सुरेश, आधुनिक भारतीय शिक्षा और उनकी समस्याएँ, वेदान्त पब्लिकेशन्स लखनऊ।

25. भक्ति वेदान्त, एस.सी. (1981), श्रीमद् भगवद् गीता यथा रूप बी.बी. ट्रस्ट मुम्बई।

26. डॉ. देवराज, भारतीय संस्कृति।

27. डॉ. देवराज, संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, हिन्दी समिति सूचना विभाग, उ.प्र. शासन (1972)

28. दशोरा नन्दलाल (व्याखाकार), अष्टावक्र गीता (राजा जनक और अष्टावक्र संवाद)।

29. दशोरा नन्दलाल, विवेक चूड़ामणि।

30. दशोरा नन्दलाल, आद्यशंकराचार्य विरचित।

31. दशोरा नन्दलाल, योग वाशिष्ठ (महारामायण)।

32. दशोरा नन्दलाल, ब्रह्मसूत्र–वेदान्त दर्शन (महर्षि वेदव्यास प्रणीत)।

33. दशोरा नन्दलाल, आत्मज्ञान की साधना।

34. दशोरा नन्दलाल, योग साधना और उसके लाभ।

35. दशोरा नन्दलाल, अध्यात्म विज्ञान और धर्म।

36. दशोरा नन्दलाल, पातंजलि योगसूत्र : योग दर्शन रणधीर प्रकाशन, हरिद्वार।

37. गौड अश्विनी, शिक्षक–प्रशिक्षक (एक सामाजिक अध्ययन), वेदान्त पब्लिकेशन्स बजाज हाउस, बिरला शास्त्री मार्ग, लखनऊ।

38. गोस्वामी तुलसीदास, रामचरित मानस, गीताप्रेस, गोरखपुर।

39. गौतम एस.एल., शिक्षा के नूतन आयाम, आलोक प्रकाशन, लखनऊ।

40. गोयन्दका जयदयाल जी, गीता तत्व विवेचनी, गोविन्द भवन कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखुपर।

41. गुप्ता एस.पी., आधुनिक मापन तथा मूल्यांकन, शारदा पुस्तक भवन यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद 1995।

42. गीता प्रेस गोरखपुर, गीता शांकर भाष्य।

43. गीता प्रेस गोरखपुर, गीता रामानुज भाष्य।

44. गीता प्रेस गोरखपुर, गर्ग संहिता।

45. गीता प्रेस गोरखपुर, पातंजलि योग प्रदीप।

46. गीता प्रेस गोरखपुर, पातंजलि योग दर्शन।

47. गीता प्रेस गोरखपुर, छान्दोग्योपनिषद (सानुवादशांकर भाष्य)।

48. गीता प्रेस गोरखपुर, वृहदारण्यकोपनिषद।

49. गीता प्रेस गोरखपुर, केनोपनिषद।

50. गीता प्रेस गोरखपुर, कठोपनिषद (सानुवादशांकर भाष्य)।

51. गीता प्रेस गोरखपुर, माण्डूक्योपनिषद (सानुवादशांकर भाष्य)।

52. गीता प्रेस गोरखपुर, प्रश्नोपनिषद (सानुवादशांकर भाष्य)।

53. गीता प्रेस गोरखपुर, तैत्तिरीयोपनिषद (सानुवादशांकर भाष्य)।

54. गीता प्रेस गोरखपुर, श्वेताश्वतरोपनिषद (सानुवादशांकर भाष्य)।

55. गीता प्रेस गोरखपुर, वेदान्त दर्शन (हिन्दी व्याख्या सहित)।

56. गीता प्रेस गोरखपुर, ईशादि नौ उपनिषद (अन्वय हिन्द व्याख्या)।

57. गीता प्रेस गोरखपुर, हरिवंश पुराण।

58. गीता प्रेस गोरखपुर, ब्रह्म पुराण, गीता प्रेस गोरख पुर।

59. कपिल एच.के., अनुसंधान विधियाँ, वेदान्त पब्लिकेशन्स, साहनी मार्ग, लखनऊ।

60. महात्मा गांधी, अनासक्ति योग।

61. मराल डॉ. गार्गीशरण मिश्र, शिक्षा की समस्याएँ और समाधान, विकास प्रकाशन, कानपुर।

62. माथुर डॉ. एस.एस., शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार।

63. माथुर डॉ. एस.एस., शिक्षा समाज शास्त्र

64. माथुर डॉ. एस.एस., शिक्षा मनोविज्ञान, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।

65. श्रीमद्भगवद् गीता (पदच्छेद, अन्वय ओर साधारण भाषा टीका सहित)।

66. श्रीमद्भगवद् गीता (साधारण भाषा टीका), गोविन्द भवन कार्यालय, गीता प्रेस, गोरखपुर।

67. पोद्दार हनुमान प्रसाद जी, गीता चिन्तन, गीता प्रेस, गोरखुपर।

68. पाण्डेय डा. रामशकल, उदीयमान भारतीय समाज में शिक्षक।

69. पाण्डेय डा. रामशकल, विश्व के सर्वश्रेष्ठ शिक्षा शास्त्री।

70. पाण्डेय डा. रामशकल, शिक्षा के दार्शनिक एवं समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि।

71. पाण्डेय डा. रामशकल, शिक्षा दर्शन और शिक्षाशास्त्री।

72. पाण्डेय डा. रामशकल, मूल्य शिक्षा।

73. पाण्डेय डा. रामशकल, पाश्चात्य तथा भारतीय शिक्षा दर्शन।

74. पाण्डेय डा. रामशकल, धर्म दर्शन और शिक्षा।

75. पाण्डेय डा. रामशकल, शिक्षा और दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, डॉ. रांगेय राघव मार्ग, आगरा–2।

76. पाठक पी. डी., भारतीय शिक्षा और उसकी समस्याएँ वेदान्त पब्लिकेशन्स, साहनी मार्ग, लखनऊ।

77. प्रेमनाथ, शिक्षा के सिद्धान्त, लोक भारतीय प्रकाशन, इलाहाबाद, 1969
78. पारसनाथ राय, अनुसंधान परिचय, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, हॉस्पीटल रोड, आगरा–3
79. सक्सेना एन.आर. स्वरूप–उदीयमान भारतीय समाज शिक्षक, वेदान्त पब्लिकेशन्स, लखनऊ।
80. सारस्वत डॉ. मालती, शिक्षा मनोविज्ञान की रूपरेखा, वेदान्त पब्लिकेशन्स, लखनऊ।
81. सिद्धान्तालंकार डॉ. सत्यव्रत, श्रीमद् भगवद् गीता (भूमिका लेखक–प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री)।
82. सिद्धान्तालंकार डॉ. सत्यव्रत, धारावाही हिन्दी में सचित्र एकादशोपनिषद (मूल सहित) दो भागों में भूमिका, राष्ट्रपति राधाकृष्णन।
83. सिद्धान्तालंकार डॉ. सत्यव्रत, धारावाही हिन्दी में गीता भाष्य मूल सहित भूमिका, प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री।
84. सिद्धान्तालंकार डॉ. सत्यव्रत, वैदिक संस्कृति में मूल तत्व।
85. सिद्धान्तालंकार डॉ. सत्यव्रत, वैदिक विचारधारा का वैज्ञानिक आधार (गंगा प्रसाद उपाध्याय पारितोषिक प्राप्त ग्रन्थ)
86. सिद्धान्तालंकार डॉ. सत्यव्रत, संस्कार चन्द्रिका (संस्कार विधि की वैज्ञानिक व्याख्या), जय्यद प्रेस, बल्लीमारान, दिल्ली।
87. सोनीराम गोपाल, उदयोन्मुख भारतीय समाज में शिक्षा के नये आयाम, वेदान्त पब्लिकेशन्स, लखनऊ।
88. शर्मा डॉ. आर.ए., भावी शिक्षकों के आधारभूत कार्यक्रम, वेदान्त पब्लिकेशन्स, लखनऊ।
89. शर्मा के.एन., मनोवैज्ञानिक विचारधाराएँ, वेदान्त पब्लिकेशन्स, लखनऊ।
90. शर्मा एस.एन., (1995–96, 96–97) 'जिज्ञासा', आर.बी.एस. कॉलेज, आगरा पत्रिका।
91. शर्मा सत्यनारायण, श्रीमदभगवद् गीता के शैक्षिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार।

92. स्वामी रामसुखदास जी, गीता ज्ञान प्रवेशिका।

93. स्वामी रामसुखदास जी, गीता दर्पण।

94. स्वामी रामसुखदास जी, (1997) श्रीमद्भगवद् गीता भाषा टीका, गीता प्रेस, गोरखपुर सम्वत् 2054

95. तिलक बाल गंगाधर, श्रीमद्भगवद गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र, 568, नारायण पेठ, लोकमान्य तिलक मन्दिर, पूना–411030

96. त्यागी डॉ. गुरूसरन, भारत में शिक्षा का विकास।

97. यादव प्रतिभा, पतंजलि योगदर्शन एवं आधुनिक शिक्षा, वेदान्त पब्लिकेशन्स, लखनऊ।

98. Ackoff. R.L., The Design of Social Research, Chicago : The University of Chicago Press, 1953

99. Andreas, B.C., Experimental Psychology, New Delhi, Wiley Eastern Pvt. Ltd. 1968.

100. Athwaley –Dawn of Divinity
Light that Leads
Eternal Ecstasy

101. Athwaley Pandurang Shastri–Dawn of Divinity.

102. Athwaley Pandurang Shastri– Light that Leads, Eternal Ecstasy,

103. Athwaley Pandurang Shastri– Nirmal Niketan 2 Dr. Bhagekar Lane, Mumbai, 1995

104. Adams J. : Educational Theories London Ernest Benn.

105. Allport F.H. : Social Psychology Boston : Hofton Mifflin, 1924.

106. Allport, G.W. : Personality : A Psychological Interpretation, New York, Henary Halt, 1937.

107. Anastasi, A., : Psychological Testing , New York : The M.C. Millan Company, 1968.

108. Beaumont, H. And M.C. Comber, F.G. : Psychological Facfors in Education, New York : M.C. Graw Hill Book Company, 1949.

109. Berrill N.J. : The Person in the womb, New York, Dodd and Mead.

110. Bigge M.L. Learning Theories for Teachers, New York : Harper and Raw, 1964.

111. Bijou S.W. and Bear, D.M. : Child Development (Both Vols) New York : Appleton, 1964.

112. Bruce, W.F. and S.F. Freeman : Development and Learning Boston : Houghton Miffin Company, 1942.

113. Bruner, J.S. : The Relevance of Education. New York : Norton 1971.

114. Bhatia B.D. : Theory or Principles of Education, Delhi Doaba House, 1968.

115. Bhakti Vedant, A.C. (1981) Srimadbhagvad Gita, Asitis, Mumbai, B.V. Book Trust.

116. Best J.W. Research in Education, New Delhi, Prentice Hall of India Pvt. Ltd. 1963.

Brown C.W. or Ghiselli, E.E. Scientific Method in Psychology. New York : MC Graw Hill, 1955

117. Cohen B. : Educational Thought London Macmillan or co. 1969.

118. Chatterji C. : Ancient Indian Education as Described in Upanishads Ph.D. Edu. Luc., 1950.

119. Cattell, R.B. : Personality and motivation : New York Harcourt, 1957.

120. Cole, Lawrence E and Bruce, W.F. : Educational Psychology New York : Word Book Company, 1950.

121. Commins, W.D. : Principles of Educational Psychology, New York : The Ronald Press Company, 1937.

122. Cronback , L.J. Educational Psychology, New York Harcourt Brace, 1954

123. Crow L.D. and Crow, A : Educational Psychology, New York : Americian Book Company, 1948.

124. Cruickshank, W.M. and Johason, G.O. : Educational of Exceptional Children and youth, Englowood Chiffs " Prentic Hall,1958.

125. Cruze. W.W. : Educational Psychology, New York, The Ronald Press Company, 1942.

126. Dabrai , S. or Sharma, S.N. (1993) A Psychological Study of Self resolution of male-female college Adolescents Masters Dissertation, A.U.

127. Davis R.V. : Educational Psychology, New York MC Graw Hill Book Company, 1948.

128. Douglas O.B. And Holland, B.F. Educational Psychology New York : The Macmillian Company, 1938.

129. Das K. : The concept of Personality in Samilehy and The Gita Ph.D. Philo Gau., U., 1975.

130. Dubev N. : Educational Psychology in Upanishads Phd. Education Samphur Namned Sauslast U. 1980.

131. Ellks R.S. Educational Psychology, New York : D. Van Nostrand Company, Inc. 1951.

132. Eurich, A.C. and Carroll, H.A. : Educational Psychology Boston, D.C. Heath and company, 1935.

133. Eysenck H.T. (1981). Encyclopaedia of Psychology H or R.N.Y.

134. Edwards. A.E. Experimental Design in Psychology, New York Holt, Rinehart or Winston. Inc. 1968.

135. Heideggr, M (1976) 'Basic Writings' H. or R.N.Y.

136. Holt Rinehart or Winston Inc., 1968.

137. Hartman G.W. : Educational Psychology, New York American Book Company, 1941.

138. Hurlock E.B. Child Development, New York. Mac Mill co. 1972.

139. Hollingworth H.L. Educational Psychology, New York, Appleton Country Crofts Inc, 193.

140. Kesari H. : The Geeta on Learning Process with reference to modern Education Ph.D Edu. OJMU, 1986.

141. Kingsley H.L. : Nature and Conditions of Learning New York Prentice Hall Inc., 1946

142. Marlow A (1991) Ref. in Hall Lindzey, Theories of Personality 3rd ed. W. E. Ltd.

143. Pandey R.S. UGC Visting Lectures at Rajkot University in January, 1985.

144. Pandey R.S. Visiting Lectures at NEHU Nagaland Campus Kohima in December, 1982.

145. Pandey R.S. Visiting Lectures at CASE M.S. University Boroda in July, 1984.

146. Pandey R.S. Our Adolescent : Their Interests and Education

147. Pandey R.S. Pragmatic Theories of Education Vinod Pustak Mandir, Agra

148. Swami Gambhiranand (1972) Eight Upanishads, Vol I or II, Kolkatta, Advaita Ashram.

149. Sharma, S.N. (2002) The Educational vision of Srimadbhagvad Gita Ist Ed, Agra, H.P. Bhargava Book House.

150. Sharma Mani (2004) Educational Practices of Classical Indian Philosophies Agra, H.P. Bhargava Book House.

151. Sartare Teanpeul (1946) Existentialism in Hunonism, Nagel Paris.